इग्नू
जन-जन का
विश्वविद्यालय

MJY-001
भारतीय ज्योतिष का परिचय एवम् ऐतिहासिकता

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

कार्यक्रम समन्वयक

डॉ0 देवेश कुमार मिश्र
एसोसिएट प्रोफेसर
संस्कृत विभाग, मानविकी विद्यापीठ, इग्नू

पाठ्यक्रम सम्पादक

प्रोफेसर देवी प्रसाद त्रिपाठी
कुलपति, संस्कृत विश्वविद्यालय
हरिद्वार, उत्तराखण्ड

पाठ्यक्रम लेखक

लेखक	खण्ड	इकाई
डॉ0 प्रवेश व्यास वास्तुशास्त्र विभाग, लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, कटवारिया सराय, नई दिल्ली	1	01 से 05
डॉ0 कृष्ण कुमार भार्गव असिस्टेण्ट प्रोफेसर, वास्तुशास्त्र विभाग, राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, तिरूपति, आन्ध्रप्रदेश	2	01 से 05
प्रोफेसर श्याम देव मिश्र ज्योतिष विभाग, केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर परिसर, राजस्थान	3	01 से 05
डॉ0योगेन्द्र कुमार शर्मा वास्तुशास्त्र विभाग, लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, कटवारिया सराय, नई दिल्ली.	4	01 से 06

आवरण

श्री तमाल बासु

सामग्री निर्माण

सामग्री निर्माण

श्री तिलक राज
सहायक कुल सचिव (प्रकाशन)
सा.नि. एवं वि. प्र. इग्नू, नई दिल्ली

श्री यशपाल
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
सा.नि. एवं वि. प्र. इग्नू, नई दिल्ली

सितम्बर, 2021

ISBN-

मानविकी विद्यापीठ एवं इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के बारे में विश्वविद्यालय कार्यालय मैदान गढ़ी नई दिल्ली से अधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से कुलसचिव, सामग्री निर्माण एवं वितरण प्रभाग, इग्नू द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित

लेजर टाइप सेटिंग : टेसा मीडिया एण्ड कंप्यूटर, C-206, A.F.Enclave-II, नई दिल्ली

मुद्रक :

पाठ्यक्रम परिचय

स्नातकोत्तर कला उपाधि ज्योतिष का यह प्रथम पाठ्यक्रम है। भारतीय ज्योतिष का परिचय एवम् ऐतिहासिकता इस पाठ्यक्रम का नाम है। इस पाठ्यक्रम को चार खण्डों में विभाजित किया गया है। चारों खण्डों में में कुल मिलाकर 21 इकाइयॉ हैं । 21 इकाइयों में अनेक विषयों का समावेश है।

पूरे कार्यक्रम का यह पाठ्यक्रम परिचयात्मक है। ज्योतिष शास्त्र का उद्भव एवं विकास का वर्णन करने के लिए प्रथम खण्ड में 5 इकाइयों में सबसे पहले संस्कृत वाङ्मय के स्वरूप की चर्चा की गई है। इसी प्रकार ज्योतिष शास्त्र का परिचय बताते हुए उसके उद्भव, विकास एवं प्रवर्तक आचार्यों का परिचय कराते हुए इस खण्ड की अन्तिम इकाई में ज्योतिष शास्त्र की वेदांगता का वर्णन किया गया है। द्वितीय खण्ड का नाम ज्योतिष शास्त्र की उपयोगिता है, जिसमें प्रथम इकाई में शिक्षा के क्षेत्र में ज्योतिष की उपयोगिता, समाज में ज्योतिष की उपयोगिता ,पर्यावरण और ज्योतिष तथा स्वास्थ्य और ज्योतिष के अलावा विभिन्न समस्याएं और ज्योतिष नामक इकाई में पूरे खण्ड का वर्णन समाहित है। तृतीय खण्ड का नाम ज्योतिष शास्त्र के अंग है। इसमें ज्योतिष के स्कन्धों का वर्णन प्रथम इकाई में किया गया है। द्वितीय इकाई सिद्धान्त, तृतीय इकाई संहिता, चतुर्थ इकाई होरा तथा पॉचवीं इकाई पारस्परिक सम्बन्ध के वर्णन से परिपूर्ण है। ज्योतिष शास्त्र में सृष्टि, प्रलय, पृथ्वी दिग् व्यवस्था नामक चौथा खण्ड इस पाठ्यक्रम का अन्तिम खण्ड है। पहली इकाई में सृष्टि की उत्पत्ति के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है, दूसरी इकाई में विश्व, सौरपरिवार, तीसरी इकाई के अन्तर्गत देश की अवधारणा एवं भेद को बताया गया है। दिक् की अवधारणा एवं भेद चौथी इकाई का विषय है। काल की अवधारणा एवं भेद को पांचवीं इकाई के वर्ण्यविषय के रूप में रखा गया है। इसी प्रकार चतुर्थ खण्ड की अन्तिम इकाई में प्रलय की अवधारणा और उसके भेदों का वर्णन करते हुए इस पाठ्यक्रम के वर्ण्यविषय को पूर्ण किया गया है।

इसमें कुल 4 खण्ड निम्नलिखित हैं –

प्रथम खण्ड –ज्योतिष शास्त्र का उद्भव एवं विकास

द्वितीय खण्ड –ज्योतिष शास्त्र की उपयोगिता

तृतीय खण्ड –ज्योतिष शास्त्र के अंग

चतुर्थ खण्ड –ज्योतिष शास्त्र में सृष्टि, प्रलय, पृथ्वी, दिग् व्यवस्था

विषयानुक्रम

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

खण्ड 1

ज्योतिष शास्त्र का उद्भव एवं विकास

खण्ड 01 का परिचय

भारतीय ज्योतिष का परिचय एवम् ऐतिहासिकता नामक पाठ्यक्रम का यह प्रथम खण्ड है। ज्योतिष शास्त्र का उद्भव एवं विकास इस खण्ड का नाम है। इसमें कुल पॉच इकाईयॉ हैं। प्रथम इकाई का शीर्षक संस्कृत वाङ्मय का स्वरूप है। इस इकाई में आप संस्कृत भाषा के स्वरूप का अध्ययन करके उसके महत्व को भी जानेगें। वैदिक साहित्य का परिचय, लौकिक संस्कृत साहित्य का परिचय, महाकाव्य, गीतिकाव्य, ऐतिहासिक काव्य, गद्यकाव्य, चम्पूकाव्य, लोककथा, नीतिकथा एवं अन्य शास्त्रों के विषय में आप इस इकाई में पढेगें।

दूसरी इकाई में ज्योतिष शास्त्र का परिचय प्रस्तुत किया गया है। ज्योतिष शास्त्र को सिद्धान्त, संहिता, और होरा इन तीन स्कन्धों में विभक्त किया जाता है । इस इकाई में आप तीनों स्कन्धों का परिचयात्मक अध्ययन करेगें।

तीसरी इकाई ज्योतिष शास्त्र का उद्भव व विकास है। इसमें आप ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति के विभिन्न मतों का अध्ययन करने के बाद कालक्रम के अनुसार ज्योतिष शास्त्र के उद्भव और विकास का अध्ययन करेगें।

इस खण्ड की चौथी इकाई का शीर्षक **ज्योतिष शास्त्र के प्रवर्तक आचार्य** है। ज्योतिष शास्त्र के प्राचीन प्रवर्तक आचार्यों की कुल संख्या 18 है जिसमें सूर्य, पितामह, व्यास, वशिष्ठ, अत्रि, पराशर, कश्यप,नारद,गर्ग, आदि का नाम मुख्यतः आता है। इस इकाई में आप वैदिक काल में ज्योतिष की आचार्य परम्परा और वेदांग काल के आचार्यों की परम्परा का अध्ययन करेगें। ज्योतिष शास्त्र की वेदांगता नामक पॉचवीं इकाई में आप ज्योतिष शास्त्र की वेदांगता को जानने के लिए वैदिक संहिताओं में ज्योतिष के तत्व, वेदांग ज्योतिष, वेद में प्रतिपादित ज्योतिष के मुख्य विषय आदि का अध्ययन करेंगे। इसके अतिरिक्त ज्योतिष किस प्रकार वेद का अंग माना जाता है, इसकी सिद्धि के लिए किए गए वर्णनों का अध्ययन करके आपको पूरे खण्ड में ज्योतिष शास्त्र के उद्भव से लेकर विकास तक की यात्रा का परिचय प्राप्त हो जायेगा। प्रत्येक इकाई के अन्त में कठिन शब्दों का अर्थ जानने के लिए शब्दावली का प्रयोग किया गया है। अन्त में सन्दर्भ ग्रन्थ सूची तथा सहायक उपयोगी सामग्रियों के रूप में विभिन्न पुस्तकों के नाम दिए गए हैं। विषय की विस्तृत जानकारी के लिए आप उनका अध्ययन कर सकते हैं।

इकाई 1 संस्कृत वाङ्मय का स्वरूप

इकाई की संरचना

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- संस्कृत भाषा का स्वरूप प्रस्तुत कर सकेंगे।
- संस्कृत भाषा का वैशिष्ट्य प्रस्तुत कर सकेंगे।
- वैदिक साहित्य का परिचय प्रदान कर सकेंगे।
- वेदाङ्गों के सन्दर्भ में जान जाऐंगे।
- काव्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर सकेंगे।
- आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि शास्त्रों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

संस्कृत विश्व की प्राचीनतम भाषा है। ऋग्वेद को यूनेस्को ने विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ माना है। भारत के प्रत्येक क्षेत्र में अलग वातावरण, भोजन, वस्त्र व आवास व्यवस्था रही हैं। तथापि भारतवर्ष एक है और इसका सबसे मुख्य कारण संस्कृत भाषा में निबद्ध इसी संस्कृति है। संस्कृत और संस्कृति को भारत वर्ष में पृथक नहीं किया जा सकता जो कि सभी भाषाओं की जननी है। भारतवर्ष के सभी क्षेत्रों में गुरुकुलों में सभी प्रकार की विद्याओं का अध्ययन और अध्यापन होता था। जैसे – गणितशास्त्र, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, चिकित्साशास्त्र, वास्तुशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि। ये सभी शास्त्र संस्कृत भाषा में ही पढाये जाते थें। सभी शास्त्रों की रचना संस्कृत भाषा में ही

हुई थी। यह भाषा आज भी इस विश्व की सबसे अधिक शुद्ध और वैज्ञानिक भाषा मानी जाती है। संस्कृत में प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति है, प्रत्येक शब्द का अपना एक अर्थवैशिष्ट है। इस विश्व में सबसे बडा शब्दकोश संस्कृत भाषा के पास है। किसी भी सभ्यता के इतिहास इतने विपुल साहित्य का भण्डार प्राप्त नहीं होता। यह भाषा जैसी बोली जाती है वैसी ही लिखी जाती है और वैसे ही समझाी भी जाती है। नाभि से प्रारम्भ करते हुए ओष्ठ तक की प्रत्येक मांसपेशी का प्रयोग करते हुए अधिकतम संभव उच्चारणों का प्रयोग इस भाषा में किया गया है जो विश्व की किसी भाषा मे देखने को नहीं मिलता है। इसी भाषा ने आज तक भारत की संस्कृति की की रक्षा की है, इसी कारण कहा गया –**संस्कृतिः संस्कृताश्रिता।** इस इकाई में आप संस्कृत भाषा के विपुल भण्डार का अत्यन्त संक्षेप में निदर्शन प्राप्त करेंगे। वेदों से प्रारम्भ करते हुए काव्य शास्त्र की परम्परा तक साहित्य का भण्डार हमारे समक्ष विद्यमान है। एक इकाई में सम्पूर्ण परिचय प्रदान करना भी संभव नहीं था। परन्तु यथासुलभ अत्यन्त संक्षेप में संस्कृत वाङ्मय का वर्णन इस पाठ में किया गया है।

1.2 संस्कृत भाषा का उद्भव तथा विकास

संस्कृत शब्द का प्रयोग उस भाषा के लिए किया है जो न्यूनतम चार सहस्र वर्षों से अनवरत भारतवर्ष में प्रचलित रही है तथा जिससे इस देश की बहुसंख्यक भाषाओं का विकास हुआ है। भारत की अनेक अन्य भाषाओं ने इससे पर्याप्त सामग्री प्राप्त की है इसे 'देवभाषा', 'अमरभारती', 'गीर्वाणवाणी' इत्यादि प्रशस्तियों से विभूषित किया गया। संस्कृत भाषा में इतना विपुल साहित्य है कि इस दृष्टि से यह सभी प्राचीन तथा अर्वाचीन भाषाओं से आगे है। विचारों की शालीनता, भावनाओं की पावनता तथा अभिव्यक्ति की व्यापकता में तो इसकी तुलना किसी से की ही नहीं जा सकती। इतिहास के आरोहों और अवरोहों से प्रभावित होकर भी इस भाषा ने साहित्य के दीपक को कभी बुझने नहीं दिया। सरल से सरल और जटिल से जटिल अभिव्यक्तियों को अपने गर्भ में रखने वाली यह भाषा भारत की प्राचीनतम और अर्वाचीनतम मेधा और प्रतिभा से अनुप्राणित होती रही है।

संस्कृत का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद की ऋचाओं में मिलता है यद्यपि उस युग में इस भाषा को संस्कृत नहीं कहते थे। इसका 'संस्कृत' नाम वैदिक युग के अवसान के बाद साहित्यिक रूप विकसित होने पर ही पड़ा। संस्कृत से सम्बद्ध और विकसित भारत की सभी भाषाओं को 'आर्यभाषा' कहते हैं। इन भाषाओं का सम्बन्ध संस्कृत के द्वारा ईरानी तथा यूरोपीय भाषाओं से माना जाता है। तात्पर्य यह है कि संस्कृत प्राचीन यूरोपीय तथा ईरानी भाषाओं की सगी बहन है। इस तथ्य की खोज १८वीं शताब्दी के अन्त में हुई तथा इसके समर्थन में पूरी १९वीं शताब्दी को यूरोप के भाषाशास्त्रियों ने लगा दिया।१९वीं शताब्दी के मध्य तक यह मत स्थिर हुआ कि ये सारी भाषाएँ एक ही परिवार की शाखाओं से निर्गत हैं। उस परिवार को भारोपीय भाषा–परिवार' (Indo-European Family of Language)कहा गया) भारोपीय परिवार के दो वर्ग हैं– केन्तुम् तथा शतम्। केन्तुम् वर्ग में ग्रीक, इटालिक, जानिक, केल्टिक, तोखारी तथा हित्ती – ये छह शाखाएँ हैं। इन्हीं में इंगलिश, फ्रेंच,पुर्तगाली, स्पेनिश, जर्मन आदि आधुनिक भाषाएँ आती हैं। दूसरी ओर शतम् वर्ग में भारत–ईरानी (आर्य), बाल्तो–स्लाविक, आर्मेनियन तथा अल्बानियन– ये चार शाखाएँ मानी गयी हैं। भारत–ईरानी वस्तुतः दो शाखाएँ हैं जिन्हें 'आर्य–शाखा' के संयुक्त नाम से अभिहित किया गया है। ये दोनों शाखाएँ हैं – भारतीय आर्य (Indo-Aryan) तथा ईरानी (Iranian-Aryan)|

भारतीय आर्यशाखा (ndo-Aryan Branch) का इतिहास भाषाशास्त्रियों के अनुसार चार सहस्र वर्षों का है जिसमें वेद से लेकर आधुनिक युग तक की भारतीय आर्यभाषाएँ

अवस्थित हैं। इस शाखा के विकास को निम्नलिखित तीन चरणों में प्रदर्शित किया जाता है –

क) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा **(Old Indo-Aryan)**– इसका काल २००० ई०पू० से ५०० ई०पू० तक माना जाता है जबकि आर्यक्षेत्र में वैदिक.या संस्कृत का सार्वजनिक प्रयोग था। इनमें साहित्यिक रचनाएँ भी मौखिक या लिखित रूप से हो रही थीं। इसे भी निम्नाङ्कित दो चरणों में रखा जा सकता है

१) वैदिक युग (२००० ई०पू०–८०० ई०पू०)– इस काल में क्रमश वैदिक मन्त्रों (संहिताओं), ब्राह्मण–ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों तक वेदाङ्गों का विकास हुआ।

२) लौकिक संस्कृत युग (८०० ई०पू०–५०० ई०पू०)– संस्कृत इस युग में 'भाषा' कही जाती थी। यास्क और पाणिनि दोनों ने इस युग की भाषा को इसी रूप में अभिहित किया है

ख) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा (Middle Indo & Aryan)– इसका काल ५०० ई०पू० स १००० ई० तक माना जाता है। इस काल में भाषा की एकरूपता नष्ट होने लगी और उसके क्षेत्रीय रूप प्रकट होने लगे। इसे निम्नाङ्कित तीन स्पष्ट चरणों में विभक्त किया जाता है

१) प्राचीन प्राकृत तथा पालि (५०० ई०पू० से ईस्वी सन् के आरम्भ तक)– जैन धर्म के प्रवर्तक वर्धमान महावीर ने प्राकृत में तथा बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध ने पालि में अपने अपने धर्मोपदेश दिये।

२) साहित्यिक प्राकृत (ईस्वी सन् के आरम्भ से ५०० ई० तक)– भारत के आर्य भाषाभाषी क्षेत्रों में अनेक प्राकृतों का विकास इस काल में हुआ

३) अपभ्रंश (५०० ई० से १००० ई०)– विभिन्न क्षेत्रों की प्राकृतों की सहज विकृति के रूप में क्षेत्रीय अपभ्रंश–भाषाओं का विकास इस युग में हुआ।

ग) नव्य भारतीय आर्यभाषा **(Middle Indo-Aryan)** – १००० ई० से अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेद आधुनिक आर्यभाषाओं के रूप में बदलने लगे। गुजराती, मराठी, राजस्थानी, पंजाबी, सिन्धी, डोगरी, नेपाली, हिन्दी, मैथिली, बंगला, उड़िया तथा असमिया प्रमुख नव्य भारतीय आर्यभाषाएँ हैं। इनमें कुछ भाषाओं में प्राचीन साहित्य उपलब्ध है जो १००० ई० के आस–पास ही आरम्भ हुआ था। नव्य आर्यभाषाओं के युग में जनभाषा और संस्कृत के बीच खाई बन गयी जो क्रमशः चौड़ी होती गयी। फिर भी संस्कृत का सम्बन्ध भारत की प्राचीन संस्कृति से बना रहा और जो कोई भी धर्म, विद्या, कला–कौशल, शिक्षा इत्यादि क्षेत्रों में संस्कृत का आश्रय लेता था उसे अन्य लोगों की अपेक्षा गौरव का पद मिलता था।

संस्कृत के अनेक विकृत रूपों में विभक्त होने के भय से इसे व्याकरणिक स्थिरता प्रदान की गयी– पूरी भाषा का सर्वेक्षण अन्वाख्यान के रूप में पाणिनि ने किया। यह अन्वाख्यान लोगों को ऐसा प्रिय लगा कि इसी रूप को सार्वत्रिक मान्यता मिल गयी। संस्कृत का मानदण्ड पाणिनि के नियमों से निर्धारित होने लगा किन्तु भाषा के रूप में यह संस्कृत भी अनेक स्तरों की हो गयी।

1.2.1 संस्कृत भाषा का वैशिष्ट्य

संस्कृत का विकास इससे निर्गत भाषाओं के रूप में तो हो ही रहा था, किन्तु अपने मूल स्वरूप की दृष्टि से यह भाषा इन समस्त परवर्ती युगों में शिक्षा और साहित्य की

दृष्टि से सुरक्षित रही। संस्कृत में भी रचनाएँ–प्रौढ रचनाएँ परवर्ती युगों में होती रहीं। भाषा में अभिव्यक्ति की शैली बदलती गयी किन्तु उसका व्याकरण पूर्ववत् रहा। शब्दकोश में भी यथावसर परिवर्तन होता रहा। चरकसंहिता से ज्ञात होता है कि उस काल में (प्रथम शताब्दी ई०पू०) आयुर्वेदिक संस्थाओं के शास्त्रार्थों में संस्कृत का व्यवहार होता था। वात्स्यायन के कामसूत्र में सभ्य नागरिक को प्रेरणा दी गयी है कि शिष्ट समाज में अपने वार्तालाप में संस्कृत और देशभाषा का प्रयोग करे। ह्वेनसांग ने बौद्ध विद्वानों को वाद–विवाद में संस्कृत का प्रयोग करते हुए देखा था।

पञ्चतन्त्र के आरम्भ में भी कहा गया है कि इसकी रचना राजकुमारों को संस्कृत तथा लोकव्यवहार की शिक्षा देने के लिए की गयी है। बिल्हण (१०६० ई०) कहते हैं कि उनकी मातृभूमि कश्मीर की स्त्रियाँ भी संस्कृत, तथा प्राकृत अपनी मातृभाषा को अच्छी तरह समझ लेती हैं।

गुजरात के पश्चिमी भाग में स्थित जूनागढ़ की पहाड़ी में अंकित रुद्रदामन् का गिरिनगर शिलालेख, जो अलंकृत संस्कृत गद्य के लम्बे वाक्य के रूप में है, संस्कृत के व्यापक प्रचारप्रसार का परिचायक है (१५० ई०)। गुप्तकाल में तो सभी अभिलेख संस्कृ त में ही अंकित हुए।ईसा की प्रथम, शताब्दी से लेकर १००० ई० तक बौद्धों और जैनों का प्रायः सम्पूर्ण साहित्य संस्कृत में ही है। यास्क (७०० ई०पू०) ने अपने निरुक्त में संस्कृत के लिए भाषा' शब्द का प्रयोग किया है– नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम् , उभयमन्वध्यायम् (निरुक्त १/४), नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम् (निरुक्त १६५), अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते (भाषा में प्रयुक्त होनेवाली धातुओं से वेदों में प्रयुक्त कृदन्त शब्दों की व्युत्पत्ति की जाती है, निरुक्त २/२)। इससे स्पष्ट है कि यास्क के काल तथा उनके निवासस्थान में संस्कृत का प्रयोग एक जनभाषा के रूप में था। वाल्मीकीय रामायण में द्विजातियों तथा सामान्य लोगों के द्वारा बोली जाने वाली संस्कृत में अन्तर बताया गया है। सीता से वार्तालाप का विचार करते हुए हनुमान् मन में कहते हैं कि यदि द्विजातियों के समान मैं परिनिष्ठित संस्कृत का प्रयोग करूँ तो सीता मुझे रावण समझ लेगी और भयभीत हो जायेगी। यथा–

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृतम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥

रावण स्वयं शिक्षित होने के कारण परिनिष्ठित संस्कृत बोलता था, ऐसी कल्पना कवि ने की है। हनुमान–जैसे दूत से वैसी संस्कृत की अपेक्षा सीता नहीं कर सकती। अतएव वे विचार करते हैं कि वानर होने के कारण सीता को विश्वास दिलाने के लिए मैं सामान्य मानव वाली संस्कृत (असावधानी से बोली गयी भाषा) बोलूँ

अहं ह्यतितनुश्चौव वानरश्च विशेषतः।
वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृतम्॥

यहाँ 'द्विजातिरिव संस्कृतम्' और 'मानुषीमिह संस्कृतम्' पर ध्यान देने से दो प्रकार की संस्कृत का अन्तर स्पष्ट होगा। एक ही भाषा शिष्ट समाज में और जन–सामान्य में दो प्रकार से बोली जाती है। हनमान की परिनिष्ठित भाषा की प्रशंसा राम ने अन्यत्र की है।

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम्॥

पाणिनि अपनी अष्टाध्यायी में 'संस्कृत' के लिए यास्क के समान 'भाषा' शब्द का ही प्रयोग करते हैं जैसे– भाषायां सदवसभ्रवः (३/२/१०८)। पूर्वं तु भाषायाम्

(८/२/६८)। कात्यायन (३५० ई०पू०) अपने वार्तिकों में स्पष्ट कहते हैं कि लोक में प्रचलित शब्दों के आधार पर ही व्याकरण लिखा गया है (लोकतोऽर्थप्रयुक्त शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमरू– महाभाष्य, आहनिक–१)। पाणिनि के समय की भाषा में अनेक परिवर्तन हो गये थे, इसीलिए उनका समावेश करने के लिए कात्यायन को वार्तिक लिखने पड़े थे। बौद्ध कवि अश्वघोष ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए देशभाषा को छोड़कर संस्कृत का आश्रय लिया था क्योंकि संस्कृत के द्वारा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार अधिक लाभप्रद प्रतीत हुआ था। भारत के पूर्वी उपनिवेशों में, विशेष रूप से चम्पा (आधुनिक वियतनाम में अनाम) में, १३वीं–१४वीं शताब्दी ई० तक संस्कृत राजभाषा के रूप में प्रयुक्त होती थी।

1.3 वैदिक साहित्य का परिचय

ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से निष्पन्न 'वेद' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' ही है। यह ज्ञान समस्त आध्यात्मिक और लौकिक ज्ञान के स्रोत या आधार के रूप में है। इसे ईश्वरीय ज्ञान कहें या प्राचीनतम ऋषियों के द्वारा अपनी प्रतिभा से प्राप्त सत्य ज्ञान कहें, 'वेद' शब्द के वाच्यार्थ के रूप में ही है। समस्त भारतीय विद्या के उत्स के रूप में स्थित यह ज्ञान अभ्यर्हित है, पूज्य कोटि में स्थापित है। यह भारत के ही नहीं, अपितु जगत् के प्राचीनतम साहित्य के रूप में आदि–संस्कृति के ज्ञान का स्रोत है। वैयाकरण लोग 'वेद' शब्द का निर्वचन करते हैं–**विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति वेदः** अर्थात् जिसके द्वारा कोई ज्ञान प्राप्त किया जाये वहीं वेद है। कौटिल्य (अर्थशास्त्र १/२) के अनुसार 'त्रयी विद्या' धर्म और अधर्म के बीच भेद का निरूपण करती है। वेदों से लोग अपने जीवन–दर्शन को संचालित कर सकते वेद भारतीय धर्म के उत्स हैं (वेदोऽखिलो धर्ममूलम, मनुस्मृति २/६)। मनु के अनुसार ये वेद सभी ज्ञानों के अक्षय कोश हैं (सर्वज्ञानमयो हि सः, मनु० २/७) जिनका अध्ययन अनिवार्य कहा गया है (वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते, मनु० २/१६६)। भारतीय धर्म ने वेदों को इतना महत्त्व दिया है कि ईश्वर की निन्दा सह्य है किन्तु वेद की निन्दा नहीं। वेद परम–प्रमाण अर्थात् आगम या शब्द–प्रमाण में उत्कृष्ट है। मीमांसकों ने कहा है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से हम जिस उपाय या ज्ञान को नहीं पा सकते उसे वेद बता सकता है अर्थात् वेद ज्ञान के समस्त उपायों में श्रेष्ठ है। वेद से वह ज्ञान मिलता है जिसे प्राप्त करने के लिए अन्य कोई साधन इस जगत् में नहीं–

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

सायण ने तैत्तिरीय संहिता के भाष्य की भूमिका में इसी आशय से लिखा है कि इष्ट–प्राप्ति और अनिष्ट–निवारण के लिए अलौकिक उपाय बताने वाला ग्रन्थ वेद है (**इष्टप्राप्त्यनिष्ट– परिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः**)।

प्राचीन परम्परा में 'वेद' के अन्तर्गत मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भाग निहित हैं **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**। 'मन्त्र' उसे कहते हैं जिसका उच्चारण करके यज्ञ–यागों का अनुष्ठान किया जाता है और जिसमें यज्ञ में भाग लेने वाले देवताओं की स्तुति की जाती है। दूसरी ओर यज्ञ के क्रिया–कलाप एवं उनके प्रयोजनों की व्याख्या करने वाले वेद–भाग को ब्राह्मण' कहते हैं। ब्राह्मण के तीन भाग हैं–ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। इस प्रकार वैदिक वाङ्मय को चार भागों में वर्गीकृत किया जाता है– मन्त्रभाग (संहिता), ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद। आरण्यक ग्रन्थों में वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने वाले वीतराग मनस्वियों के क्रियाकलाप प्रतिपादित हैं तो उपनिषदों में वैदिक युग का दार्शनिक साहित्य निहित है।

1.3.1 संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषद्

संहिता– वैदिक मन्त्रों का संग्रह 'संहिता' कहलाता है। इन मन्त्रों के मौलिक रूप में वैदिक पदों का परस्पर अधिकतम सन्निकर्ष है। इसीलिए पाणिनि ने 'संहिता' का अर्थ किया है–**परः सन्निकर्षः संहिता** (अष्टाध्यायी)। वस्तुत वैदिक संहिताओं में परस्पर सन्धिबद्ध मन्त्रों का संकलन है। ये मन्त्र पहले विभिन्न ऋषिकुलों में बिखरे हुए थे जिन्हें संकलित किया गया, वैज्ञानिक व्यवस्था से एकत्र किया गया। स्पष्टतः यह संकलन, उद्देश्य–विशेष से, मन्त्रों के आविर्भाव–काल के बहुत समय बाद में हुआ। वैदिक संहिताएँ मुख्यतः चार हैं–ऋग्वेद–संहिता, यजुर्वेद–संहिता, सामवेदसंहिता तथा अथर्ववेद–संहिता।

ब्राह्मण – आपस्तम्ब ने यज्ञ–परिभाषा (परि० सं० ३१) में कहा है–मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। अर्थात् 'वेद' मन्त्र–भाग तथा ब्राह्मण–भाग दोनों को कहते हैं। मन्त्रों के अनन्तर ब्राह्मण–भाग का विकास मन्त्रों के उपयोग की व्याख्या के लिए हुआ। ब्राह्मणों की विषय–वस्तु के निरूपण के प्रसंग में दस प्रकारों की चर्चा शबरस्वामी ने की है। यथा–

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण–कल्पना।
उपमान दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु॥(मीमांसासूत्रभाष्य २:१:३३)

तदनुसार ब्राह्मण–ग्रन्थों में हेतु–विचार , निर्वचन (शब्दों में निहित क्रिया के आधार पर अर्थ–प्रकाशन),निन्दा, प्रशंसा, संशय , विधि (कर्म की प्रेरणा देने वाले वाक्य), परक्रिया (एक व्यक्ति की कथा), पुराकल्प (प्राचीन कथाएँ), व्यवधारण (सन्देह की स्थिति में समुचित निर्णय लेना) तथा उपमान (समान दृष्टान्त द्वारा विषय को स्पष्ट करना)– ये ही दस बातें पायी जाती हैं।

क) ऋग्वेद के ब्राह्मण– १. ऐतरेय ब्राह्मण तथा २. कौषीतकि (या शाङ्खायन) ब्राह्मण।

ख) शुक्लयजुर्वेद का ब्राह्मण–१. शतपथ ब्राह्मण (माध्यन्दिन तथा काण्व शाखा)

ग) कृष्णयजुर्वेद का ब्राह्मण–१. तैत्तिरीय ब्राह्मण। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय, मैत्रायणी आदि संहिताओं के ब्राह्मण–भाग भी ग्राह्य हैं।

घ) सामवेद के ब्राह्मण–१. पञ्चविंश (या ताण्ड्य), २. षड्विंश , ३. सामविधान , ४. आर्षेय, ५. दैवत, ६. उपनिषद्–ब्राह्मण, ७ संहितोपनिषद्, ८. वंशब्राह्मण, ६. जैमिनीय (तवलकार)।

ङ) अथर्ववेद का ब्राह्मण– १. गोपथ–ब्राह्मण (शौनक शाखा से सम्बद्ध)।

आरण्यक – ब्राह्मण–ग्रन्थों के परिशिष्ट–रूप आरण्यकों तथा उपनिषदों का विकास प्रत्येक वैदिक शाखा में हुआ था। दोनों में दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण है। इनमें 'आरण्यक' अरण्य में निवास करने वाले वानप्रस्थ आश्रम के लोगों के लिए उपादेय है और 'उपनिषद्' संन्यासी परिव्राजकों के लिए विकसित है। सायण ने तैत्तिरीयारण्यक के भाष्य के मंगलाचरण में कहा है–**अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमितीर्यते** (श्लोक–६)। अर्थात् अरण्य के निर्जन शान्त स्थान में अध्ययन के योग्य होने से इन वैदिक ग्रन्थों को 'आरण्यक' कहा गया है। आरण्यकों का प्रतिपाद्य यज्ञों में निहित आध्यात्मिक विषयों का विवेचन है। इनका लक्ष्य चिन्तन है, कर्मानुष्ठान में प्रवर्तन नहीं। गृहस्थाश्रम में रहकर जिन यज्ञ–यागों का अनुष्ठान किया जा चुका है उनके रहस्यों का अनावरण और पौरोहित्य–दर्शन की व्याख्या करने में ये आरण्यकग्रन्थ लगे है। वस्तुतः ब्राह्मणों

के क्रियाकलापों को औपनिषद चिन्तनधारा से जोड़ने वाली शृंखला के रूप में आरण्यकों का विपुल महत्त्व है। कर्ममार्ग से ज्ञानमार्ग को प्राप्त करने के ये सुदृढ़ सोपान हैं क्योंकि अधिसंख्यक आरण्यकों में बाह्य औपचारिक यज्ञ को मानस–यज्ञ की अभिव्यक्ति के रूप में समझाया गया है।

वैदिक शाखाओं की संख्या के अनुरूप आरण्यकों की भी संख्या होनी चाहिए किन्तु बहुत कम संख्या में आरण्यक मिलते हैं। अभी केवल पाँच–छ आरण्यक ही प्राप्त हैं। ऐतरेय आरण्यक ऋग्वेद की शाकल–शाखा से सम्बद्ध है, यह आरण्यक ऐतरेय ब्राह्मण का ही परिशिष्ट है जिसमें पाँच भाग (आरण्यक) हैं जो पृथक् ग्रन्थ माने जाते हैं। शाळायन आरण्यक ऋग्वेद का दूसरा आरण्यक है जिसे 'कौषीतकि आरण्यक भी कहते हैं। शुक्लयजुर्वेद का एक आरण्यक 'बृहदारण्यक' है जो शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम काण्ड है। तैत्तिरीय आरण्यक कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध आरण्यक है कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा का आरण्यक 'मैत्रायणीयोपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध है। तलवकार आरण्यक सामवेद की जैमिनीय शाखा का आरण्यक है। सामवेद के ताण्ड्य ब्राह्मण से सम्बद्ध 'छान्दोग्यारण्यक' है जो वस्तुतः प्रसिद्ध छान्दोग्योपनिषद् का आरम्भिक भाग है। अथर्ववेद का कोई आरण्यक नहीं मिलता है।

उपनिषद् – ब्राह्मण–ग्रन्थ जिस प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड के शिखर–ग्रन्थ हैं, उसी प्रकार वैदिक ज्ञानकाण्ड का उत्कर्ष उपनिषद्–ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वे वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों तथा आरण्यकों के अङ्ग हैं– इन सभी रूपों के उपनिषद् हैं। वैदिक वाङ्मय के अन्तिम भाग में निबद्ध होने तथा उनके सारभूत सिद्धान्तों का निरूपण करने के कारण उन्हें 'वेदान्त' भी कहा जाता है। उपनिषदों में मुख्य रूप से गूढ अध्यात्मविद्या का निरूपण है। ऋषियों ने भौतिक जगत् के पीछे छिपे हुए परमतत्त्व का अन्वेषण करने के क्रम में अनेक दार्शनिक विषयों की मीमांसा की है। उनमें ब्रह्म और आत्मा के अन्तर्गत सम्पूर्ण जगत् का निरूपण है। प्रचार की दृष्टि से सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में उपनिषद् अग्रणी हैं। देश–विदेश के असंख्य विद्वानों तथा दार्शनिकों ने उपनिषदों के प्रति आदर–भाव प्रकट किया है। व्युत्पत्ति तथा अर्थ–'उप' तथा 'नि' इन दो उपसर्गों के बाद सद्–धातु से क्विप प्रत्यय लगकर 'उपनिषद्' शब्द निष्पन्न होता है। साधारणतः इसका अर्थ होता है–गुरु के समीप (उप) बैठकर (निषद्) प्राप्त किया गया ज्ञान। फिर भी सद्–धातु के तीन अर्थों से आध्यात्मिक उत्कर्ष वाले निर्वचन किये गये हैं। सद्–धातु के तीन अर्थ हैं– विशरण (नाश), गति (ज्ञान या प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिल करना)। इसीलिए शङ्कराचार्य ने कहा है–**उपनिषादयति सर्वानर्थकरं संसारं विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति** (ईशावास्योपनिषद्भाष्य का आरम्भ)। अर्थात् सभी अनर्थों को उत्पन्न करनेवाले संसार (जीव का बार–बार जन्ममरण होना) का यह विनाश करती है, संसार के हेतु स्वरूप अविद्या को शिथिल करती है और ब्रह्म की प्राप्ति (अवगति–ज्ञान) कराती है।

उपनिषदों का अध्ययन एकान्त में गुरु के प्रसाद से होता रहा है अतः उन्हें 'रहस्यविद्या' भी कहते हैं। उनमें मुख्य रूप से ब्रह्म, सृष्टि, जीव, आत्मा, प्राण, पुनर्जन्म, कर्म तथा नैतिकता का विवेचन है। उनमें उपदेश की अनेक विधियों का प्रयोग मिलता है–कहीं प्रतीक रूप में, कहीं आख्यान के द्वारा और कहीं युक्तियों से दर्शन (अध्यात्म–विधा) के गूढ़ रहस्यों को स्पष्ट किया गया है।

मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार इनकी संख्या १०८ हैं जिन्हें वेदों से जोड़ने का प्रयास हुआ है–ऋग्वेद की १०, शुक्लयजुर्वेद के १९, कृष्णयजुर्वेद के ३२, सामवेद के १६ तथा अथर्ववेद के ३१ उपनिषद् हैं। उपनिषदों की संख्या इससे भी अधिक है। गीता प्रेस

गोरखपुर की कल्याण' पत्रिका के उपनिषदङ्क में २२० तथा 'उपनिषद्–वाक्य–महाकोश' में २२३ उपनिषदों का उल्लेख है।'

जिन प्राचीन १४ उपनिषदों की चर्चा होती है उनमें दस महत्त्वपूर्ण हैं, उन पर शङ्कराचार्य ने भाष्य लिखा है। उनके विषय में यह प्रसिद्ध श्लोक है

ईश–केन–कठ–प्रश्न–मुण्ड–माण्डूक्य–तित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा।।

इसमें (१) ईशोपनिषद्, (२) केनोपनिषद्, (३) कठोपनिषद्, (४) प्रश्नोपनिषद्, (५) मुण्डकोपनिषद्, (६) माण्डूक्योपनिषद्, (७) तैत्तिरीयोपनिषद् , (८) ऐतरेयोपनिषद्, (९) छान्दोग्योपनिषद् तथा (१०) बृहदारण्यकोपनिषद् निर्दिष्ट हैं। जिन अन्य चार प्राचीन उपनिषदों का उल्लेख हुआ है वे हैं– (११) कौषीतक्युपनिषद्, (१२) श्वेताश्वतरोपनिषद्, (१३) मैत्रायणी उपनिषद् तथा (१४) महानारायणीयोपनिषद्।

1.4 वेदाङ्ग साहित्य

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के विकास के अन्तिम काल में ऐसे साहित्य का विकास हुआ जो वेदों की अविकल रक्षा करते हुए उन्हें यथार्थ रूप से समझने एवं तदनुकूल क्रियाओं के अनुष्ठान में सहायक हो। इसे 'वेदाङ्ग' कहा गया। मुण्डकोपनिषद् (१/१/५) में चारों वेदों के साथ उनके छहों वेदाङ्गों की गणना कराकर उन्हें अपरा विद्या' कहा गया है–**तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।** इन छ वेदाङ्गों के तीन प्रमुख उद्देश्य हैं– वेदों का अर्थबोध (व्याकरण तथा निरुक्त), उनका सही उच्चारण (शिक्षा तथा छन्द) एवं वेदों का याज्ञिक प्रयोग (कल्प तथा ज्योतिष)। पाणिनीय शिक्षा (श्लोक ४१–४२) में इन वेदाङ्गों को वेद–पुरुष के विविध अवयवों द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

यह रूपक विचार का विषय है। वेदमन्त्र पादों में विभाजित हैं। जिस प्रकार पदक्रमों (पगों) से पुरुष की पहचान होती है उसी प्रकार छन्दों से वेदमन्त्रों का वैशिष्ट्य जाना जाता है। छन्द से वेदमन्त्र के पादों की सीमा ज्ञात होती है। कल्प कर्मकाण्ड के विषय हैं। कर्मकाण्ड का अनुष्ठान हाथों से होता है, अतः कल्प को वेदपुरुष का हाथ कहा गया है। ज्योतिष के द्वारा कर्मानुष्ठान के काल पर दृष्टि रखी जाती है। निरुक्त अर्थज्ञान देता है जिसका साधन श्रोत्रेन्द्रिय है। इसीलिए निरुक्त को वेद–पुरुष का श्रोत्र कहा गया है कि शब्द सुनने के बाद ही अर्थबोध की प्रक्रिया आरम्भ होती है। उच्चारण–विज्ञान (शिक्षा) को नासिका का रूप दिया गया है। व्याकरण उच्चरित शब्दों को शुद्धाशुद्धता का तथा उनकी व्युत्पत्ति का विचार करने से वेद–पुरुष का मुख है। छहों वेदाङ्ग अपने–आप में पूर्ण शास्त्र या विज्ञान हैं जिनका संस्थापन–विस्थापन ही वेद के उद्‌देश्य की सम्पूर्ति करते हैं। इन अंगों का विभिन्न यज्ञों में अपने–अपने ढंग से लोगों ने वैशिष्ट्य प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। वेदों के एक–एक मन्त्र के अनुशीलन में प्रत्येक वेदांग की भूमिका है।

१) **शिक्षा**– जिस शास्त्र में वर्ण, स्वर, मात्रा, उच्चारण प्रकार का उपदेश हो उसे 'शिक्षा' कहते हैं **(वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा**

(ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ०३६)। तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली (१/२) में शिक्षा के छः विषयों का वर्णन किया गया है। इसे अध्याय के रूप में उपस्थापित किया गया है। यथा– **वर्णः स्वरः मात्रा बलं साम सन्तानः इत्युक्तः शिक्षाध्यायः।** शिक्षा के नाम से जो पाणिनीय–शिक्षा आदि ग्रन्थ मिलते हैं वे बहुत बाद के हैं। इस वेदाङ्ग के प्राचीनतम ग्रन्थ 'प्रातिशाख्य' हैं जो पाणिनि से पहले के हैं। वेदों की प्रत्येक शाखा के उच्चारण की प्रक्रिया को पृथक्–पृथक् बतलाने के कारण ये प्रातिशाख्य कहलाते हैं (**शाखां शाखां प्रति–प्रतिशाखम्। प्रतिशाखं भवम्–प्रातिशाख्यम्**)। व्याकरण के इतिहास में भी इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अभी उपलब्ध प्रातिशाख्य हैं–(१) ऋक्प्रातिशाख्य, (२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, (३) वाजसनेयि प्रातिशाख्य, (४) सामप्रातिशाख्य (इसमें सामतन्त्र, पुष्पसूत्र तथा ऋक्तन्त्र– ये तीन स्वतन्त्र ग्रन्थ है) तथा (५) अथर्वप्रातिशाख्य (अथर्वप्रातिशाख्य तथा शौनकीया चतुरध्यायी नामक दो पृथक् ग्रन्य)। ये ग्रन्थ ध्वनिविज्ञान की प्राचीनता के परिचायक हैं।

२) कल्प– विभिन्न वैदिक शाखाओं के ब्राह्मण–ग्रन्थों में विहित कर्मों का व्यवस्थित वर्णन करने वाला वेदाङ्ग 'कल्प' कहा गया है। ब्राह्मणों के विधि–वाक्यों में कर्मों का निरूपण है, ये कर्म श्रौत तथा गृहकर्म के रूप में थे। इनके अतिरिक्त मानव के आचार–व्यवहार से सम्बद्ध धर्म का भी इनमें विवेचन था। इस प्रकार के सभी कर्म 'कल्प' की परिधि में रखे गये। विष्णुमित्र ने कल्प का लक्षण दिया है– **कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्** वेदों में विहित कर्म इतने व्यापक और विच्छिन्न थे कि उन्हें संक्षिप्त और व्यवस्थित करके कल्प–ग्रन्थों में सूत्रबद्ध किया गया।

कल्प के चार भेद हैं– श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा शुल्वसूत्र। श्रौतसूत्र में वैदिक ब्राह्मणों में वर्णित यज्ञ–यागादि विधानों का संक्षिप्त विवरण मिलता है। ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र हैं– आश्वलायन तथा शालायन। शुक्लयजुर्वेद का एकमात्र कात्यायन श्रौतसूत्र है। कृष्णयजुर्वेद के छः श्रौतसूत्र हैं– बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वैखानस, भारद्वाज और मानव। सामवेद के चार श्रौतसूत्र हैं–आर्षेय, लाट्यायन, द्राह्मायण तथा जैमिनीय। अथर्ववेद का एकमात्र वैतान श्रौतसूत्र है।

गृह्यसूत्र में गार्हस्थ्य–जीवन से सम्बद्ध धार्मिक अनुष्ठानों, संस्कारों, यज्ञों तथा अन्य कृत्यों का विवरण है। इनमें प्रतिपादित यज्ञ गृह्याग्नि में अनुष्ठित होते थे। ऋग्वेद के दो गृह्यसूत्र हैं– आश्वलायन तथा शाङ्खायन। शुक्लयजुर्वेद का एकमात्र पारस्कर गृह्यसूत्र है। कृष्णयजुर्वेद के नौ गृह्यसूत्र हैं– बौधायन, मानव, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वैखानस, वाधूल, काठक तथा वाराहगृह्यसूत्र। सामवेद के तीन गृह्यसूत्र हैं– गोभिल, खादिर तथा जैमिनीय। अथर्ववेद का एक ही गृह्यसूत्र है– कौशिक।

धर्मसूत्र में सामाजिक जीवन के नियमों, विधि–निषेधों, क्रिया–कलापों तथा आचारविचार का वर्णन है। ये 'धर्मशास्त्र' भी कहलाते हैं। श्रुति–प्रतिपादित धर्म के ये प्रतिनिधि–ग्रन्थ हैं। मनुस्मृति आदि की रचना इन्हीं के आधार पर हुई है। सभी वैदिक शाखाओं के धर्मसूत्र नहीं मिलते। कुछ शाखाओं के (जैसे आश्वलायन, शाङ्यायन और मानव के) श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र उपलब्ध हैं किन्तु धर्मसूत्र नहीं हैं। केवल बौधायन, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी के सम्पूर्ण कल्पसूत्र (श्रौत्र, गृह्य, धर्म शुल्ब) उपलब्ध हैं। इस समय बौधायन, गौतम, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वसिष्ठ– ये ही मुख्य और प्राचीन धर्मसूत्र मिलते हैं।

शुल्वसूत्र में यज्ञवेदिका के निर्माण की विधियाँ वर्णित हैं। भारतीय ज्यामिति का आरम्भ इन्हीं से होता है। सम्प्रति शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध कात्यायनशुल्वसूत्र तथा कृष्णयजुर्वेद के छः शुल्वसूत्र मिलते हैं– बौधायन, आपस्तम्ब, मानव, मैत्रायणीय, वाराह तथा वाधूल। शुल्व का अर्थ है– नापने की रस्सी। रस्सी से नापकर ही वेदियों का निर्माण होता था। इसलिए इनका यह नाम शुल्बसूत्र पड़ा।

३) **व्याकरण**– मूलतः वैदिक भाषा के पदों की रचना (व्युत्पत्ति) को स्पष्ट करने के लिए इस वेदाङ्ग का विकास हुआ था जो क्रमशः लौकिक संस्कृत की परिधि में आकर एक महत्त्वपूर्ण शास्त्र बन गया। तैत्तिरीय संहिता (६/४/७/३) में इन्द्र द्वारा वाक् को व्याकृत (व्युत्पन्न, विभाजित) किये जाने का आख्यान है। इसीलिए परम्परा से इन्द्र को प्रथम वैयाकरण कहा जाता है। संहिताओं का पद–पाठ करने वाले लोग ही प्रथम वैयाकरण थे जिन्होंने पदों के रूप में मन्त्रों को रूपान्तरित करके पद–विज्ञान (व्याकरण) का मार्ग प्रशस्त किया। व्याकरण के पाँच प्रमख उद्देश्य कहे गये हैं– वेदों की रक्षा (वेदों के मूल पदों को समझना), ह (यज्ञ में, आवश्यकतानुसार, प्रकृति रूप में पठित पदों का विकृति पाठ करना),आगम (प्राचीन उद्धरणों से व्याकरण का महत्त्व समझना), लघु (भाषा–शिक्षा के लिए लघुतम साधन होना) तथा असन्देह (किसी स्थल–विशेष में भाषागत सन्देह का निराकरण)। ऐतिहासिक दृष्टि से व्याकरण का सर्वप्रथम पूर्णग्रन्थ पाणिनि की अष्टाध्यायी है जिसके ४००० सूत्रों में प्रायः ७०० वैदिक भाषा तथा उसमें निहित स्वर के विवेचन से सम्बद्ध हैं। वैदिक भाषा की तुलना संस्कृत से करते हुए पाणिनि ने तथाकथित 'वैदिकी प्रक्रिया' के सूत्रों की रचना की थी। पाणिनि के पूर्व भी आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक तथा स्फोटायन– ये दस वैयाकरण हो चुके थे जिनके नाम अष्टाध्यायी में आये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों से १३ वैयाकरणों के नाम प्राप्त होते हैं, जो पाणिनि से पहले हो चुके थे। इनके ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं।

४) **निरुक्त**– वैदिक शब्दों का निर्वचन अर्थात् अर्थ का निर्णय करने वाला वेदाङ्ग 'निरुक्त' है। अभी एकमात्र यास्क–रचित निरुक्त उपलब्ध होता है जो वैदिक शब्दों के एक पञ्चाध्यायात्मक संग्रह 'निघण्टु' की व्याख्या है। अनुमान होता है कि 'निघण्टु' के नाम से कई संग्रह हुए थे। तभी यास्क ने 'निघण्टव' यह बहुवचन–प्रयोग किया है। यास्क ने एक विशेष निघण्टु का चुनाव करके उसी पर व्याख्या लिखी। यास्क का समय ८०० ई० पू० से ७०० ई० पू० के बीच रखा जाता है। परवर्ती ग्रन्थ 'वृहद्देवता' पर यास्क का बहुत प्रभाव है। निरुक्त भाषाशास्त्र, अर्थविज्ञान एवं निर्वचनशास्त्र (Etymology)का प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रन्थ है।

५) **छन्द**– वेदों के अधिसंख्यक मन्त्र पद्य में हैं। प्राचीन काल में लेखन सामग्री के अभाव में स्मरण से ही रचनाएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रमण करती थीं। स्मृति की दृष्टि से गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक अनुकूल था। पद्यात्मक मन्त्रों के सही उच्चारण, समुचित स्थान पर विराम इत्यादि के लिए छन्द (छन्दस्) का ज्ञान अनिवार्य है। वैदिक छन्दों में अक्षरों की गणना होती है। नियत अक्षरों (स्वर–वर्णों) से पाद बनते हैं। एक मन्त्र का आन्तरिक विभाजन पादों में हो होता है। 'छन्दस्' (छद् धातु असुन् प्रत्यय) शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है– आच्छादित करने वाला या स्तुति का साधन। इस प्रकार यह वेदाङ्ग वेद का आवरण है, स्तुति का साधन है। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में छन्द का लक्षण दिया गया है–**यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः।** सम्प्रति इस वेदाङ्ग का प्रतिनिधि–ग्रन्थ पिङ्गल ऋषि का छन्दः सूत्र है जिसके आरम्भ से चतुर्थ अध्याय (सूत्र–७) तक वैदिक

छन्दों के लक्षण दिये गये हैं। शेष भाग में लौकिक छन्दों का वर्णन है। ऋक्प्रातिशाख्य के अन्त में (पटल १६–१८) भी वैदिक छन्दों का विवेचन है।

(६) ज्योतिष– वेदों में विहित कर्मानुष्ठान का समुचित काल जानने के लिए वेदाङ्ग के रूप में ज्योतिष–शास्त्र का उपयोग होता है। लगध–रचित 'वेदाङ्गज्योतिष' नामक ग्रन्थ इसका प्रतिनिधि–ग्रन्थ है, जिसका समय शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने १४०० ई० पू० सिद्ध किया है। इसके तृतीय श्लोक में ज्योतिष की उपयोगिता इस प्रकार बतायी गयी है

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालाभिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्॥

अर्थात् वेदों की प्रवृत्ति यज्ञानुष्ठान के उद्देश्य से हुई है, यज्ञों का विधान काल के अधीन है (कालविशेष में यज्ञ अनुष्ठित होते हैं) इसलिए जो व्यक्ति काल का विधान करने वाले इस ज्योतिष शास्त्र को जानता है, वही यज्ञ का ज्ञान रखता है। ज्योतिष शास्त्र के सन्दर्भ में आगे आने वाले पाठों में विस्तार से अध्ययन करेंगे वेदाङ्गों के अतिरिक्त अनुक्रमणी–साहित्य का भी विकास वेदों की रक्षा के लिए हुआ था। 'अनुक्रमणी' का अर्थ है सूची। इसमें वेदों के ऋषियों, छन्दों, देवताओं, सूक्तों, अनुवाकों तथा पदों तक की सूची, गणना–सहित दी गयी है। षड्गुरुशिष्य ने कहा है कि ऋग्वेद की रक्षा के लिए शौनक ने दस अनुक्रमणियों की रचना की थी (**शौनकीया दश ग्रन्थास्तदा ऋग्वेदगुप्तये**)। ये इस प्रकार हैं– आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, सूक्तानुक्रमणी, ऋग्विधान, पादविधान, बृहद्देवता, प्रातिशाख्य और शौनकस्मृति। अथर्ववेद की अनुक्रमणियों में बृहत्सर्वानुक्रमणी' प्रसिद्ध है। चरणव्यूहसूत्र शौनक की कृति के रूप में प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

1.5 संस्कृत साहित्य

आदिकाव्य रामायण तथा ऐतिहासिक काव्य महाभारत – वैदिक साहित्य के अवसान–काल में लौकिक संस्कृत का उपक्रम होने के समय ऐसे दो महान् ग्रन्थों का उदय हुआ जिन्होंने भारतीय साहित्य तथा जन–जीवन को भी अत्यधिक प्रभावित किया। ये दो ग्रन्थ हैं– रामायण तथा महाभारत। इनमें रामायण को 'काव्य' तथा महाभारत को 'इतिहास' कहा गया है। साहित्य की इन दोनों विधाओं का उद्भव श्रौत कर्मकाण्ड के काल में ही हुआ था। यज्ञ के कर्मकाण्ड के क्रम में नैतिक प्रवचन की प्राचीन परम्परा रही है। वैदिक युग में सुपर्णाख्यान (नागों और गरुड़ की शत्रुता से सम्बद्ध आख्यान) प्रचलित हुआ था, ऐसी ही अन्य अनेक कथाएँ नीति की शिक्षा के क्रम से सुनायी जाती थीं। इसी प्रसङ्ग में मर्यादापुरुषोत्तम राम और योगेश्वर कृष्ण की कथाएँ कही जाने लगी थीं जिन्होंने, आनुषङ्गिक कथाओं को जोड़ने से, क्रमशः रामायण और महाभारत का रूप लिया। वाल्मीकि और महर्षि व्यास ने इन्हें ग्रन्थ का रूप दिया।

पुराण साहित्य – 'पुराण' शब्द प्राचीन धार्मिक साहित्य के अर्थ में वैदिक युग से ही प्रचलित है। धर्म का अङ्ग बनाकर प्राचीन कथाओं, वंशावलियों, इतिहास–भूगोल के तथ्यों एवं सामान्यतः ज्ञान–विज्ञान के सभी विषयों को पुराणों में काल–क्रम से समाविष्ट कर दिया गया। महाभारत के समान 'पुराण' भी विकासशील साहित्य रहा है जिसका अन्तिम सम्पादन व्यास ने ही किया था। अथर्ववेद के अनुसार पुराण का आविर्भाव ऋक, साम, छन्द और यजुस् के साथ ही हुआ था **(ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ११/७/२४)।** शतपथ–ब्राह्मण (१४३/३/१३) में 'पुराण' को वेद कहा गया है। सम्भवतः वैदिक युग के प्राचीन आख्यानों का संकलन करने के लिए

एक पृथक् साहित्य–भेद का जन्म हुआ जिसे 'पुराण' कहा गया और इसका संकलन उसी समय आरम्भ हुआ जब विच्छिन्न वैदिक मन्त्रों का संहिता–करण होने लगा हो। उपर्युक्त तथ्य इस मान्यता का समर्थन करते हैं। छान्दोग्योपनिषद् (७/१/२) में इतिहास तथा पुराण को संयुक्त रूप से नारद ने 'पञ्चम वेद' कहा है–**इतिहास–पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्**। बृहदारण्यकोपनिषद् (२/४/१०) में भी इतिहास–पुराण को वेदों के समान परमात्मा के निःश्वास के रूप में निर्गत कहा गया है **(अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः इतिहासः पुराणम्)**। इस प्रकार वेदों के समकक्ष पुराणों को प्राचीन वाङ्मय में रखा गया।

इतिहास तथा पुराण को प्राचीन साहित्य में समान स्तर पर रखा गया है। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त महाभारत में भी कहा गया है– इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबंहयेत्। अर्थात् वेद के अर्थ का पल्लवन इतिहास और पुराण के द्वारा करना चाहिए। पुराण के लक्षण तथा विषयवस्तु के सम्बन्ध में यह श्लोक मिलता है

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

पुराण में पाँच विषयों का प्रतिपादन होता है– (१) सर्ग– विश्व की सष्टि की प्रक्रिया, (२) प्रतिसर्ग– प्रलय तथा पुनःसृष्टि का वर्णन, (३) वंश–देवताओं और ऋषियों के वंशों का वर्णन, (४) मन्वन्तर– प्रत्येक मनु का काल और उस काल की प्रमुख घटनाओं का निरूपण एवं (५) वंशानुचरित– सूर्यवंश और चन्द्रवंश में उत्पन्न राजाओं का जीवन–चरित। पुराणों का विकास दो रूपों में हुआ है– महापुराण तथा उपपुराण। महापुराण प्राचीनतर हैं जिनकी संख्या अठारह है। इस विषय में एक संग्रहश्लोक मिलता है। यथा–

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
अनापलिंगकूस्कानि पुराणानि पृथक्–पृथक्॥

अर्थात् 'म' से दो पुराण– मत्स्य तथा मार्कण्डेय, 'भ' से दो पुराण– भविष्य तथा भागवत, 'ब्र से तीन पुराण– ब्रह्म, ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्मवैवर्त, 'व' से चार पुराण–विष्णु, वामन, वराह तथा वायु। पुनः 'अ' से अग्नि, 'ना' से नारद, 'प' से पद्म, लिं' से लिङ्ग, 'ग' से गरुड़, 'कू' से कूर्म और 'स्क' से स्कन्द– ये १८ पुराण पृथक्–पृथक् हैं। इनका विभाजन आगे दिखाया जायेगा। उपपुराण भी संख्या में १८ कहे गये हैं– सनत्कुमार, नारसिंह, स्कन्द या शिव, शिवधर्म, आश्चर्य, नारदीय, कापिल, औशनस, वारुणं, कल्कि, कालिका, माहेश्वर, साम्ब, सौर(सूर्य), पाराशर, मारीच, भार्गव तथा नन्द। यह सूची विविध पुराणों या उपपुराणों में पृथक्–पृथक् है। कहीं चण्डीपुराण, मानवपुराण, गणेशपुराण, नन्दपुराण, विष्णुधर्मोत्तर इत्यादि का भी उल्लेख है। इनमें अधिसंख्यक उपपुराण उपलब्ध हैं।

महाकाव्य

'काव्य' शब्द संस्कृत भाषा में बहुत प्राचीन है जिसे 'कवि के कर्म' के रूप में जाना जाता है– कवः कर्म काव्यम् (कविण्यत्)। यह 'कवि' शब्द 'कु' अथवा 'कव्' धातु (भ्वादि आत्मनेपद–कवते) से बना है जिसका अर्थ है– ध्वनि करना, विवरण देना, चित्रण करना इत्यादि। तदनुसार, शब्दों के द्वारा किसी विषय का आकर्षक विवरण देना या चित्रण करना काव्य है। भामह ने अपने काव्यालंकार (१/१८–२३) में, दण्डी ने काव्यादर्श (१/१४–२२) में, अग्निपुराण (अध्याय ३३७) में,रुद्रट ने काव्यालंकार

(१६/७–१६) में तथा विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण (६/३१५–२५) में महाकाव्य के वर्णनात्मक लक्षण दिये। इन सभी लक्षणों में महाकाव्यों के अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग का वर्णन किया गया है। वस्तुतः महाकाव्य के लक्षणों में कथानक, नायक और रस से सम्बद्ध बातें हैं। कुछ लक्षण बहिरङ्ग अथवा केवल विषय–निर्वाह के लिए अपेक्षित हैं, परवर्ती महाकाव्य इन्हीं पर अधिक ध्यान देते हैं। कथानक की दृष्टि से महाकाव्य किसी प्रसिद्ध या ऐतिहासिक घटना पर आश्रित होते हैं, काल्पनिक इतिवृत्त का अवकाश इनमें नहीं होता। कुछ सुप्रसिद्ध महाकाव्य इस प्रकार से हैं – कालिदास रचित रघुवंश व कुमारसंभव, अश्वघोष रचित बुद्धचरित व सौन्दरनन्द, भारवि रचित किरातार्जुनीय, भट्टि रचित रावणवध, कुमारदास रचित जानकीहरण, माघ रचित शिशुपालवध। इनके अतिरिक्त भी अनेक आचार्यों ने महाकाव्यों की रचना की जैसे – शिवस्वामी रचित कप्फिणाभ्युदय, रत्नाकर रचित हरविजय काव्य, अभिनन्द रचित रामचरित, क्षेमेन्द्र रचित दशावतारचरित, भारतमञ्जरी व बृहत्कथामञ्जरी, मङ्ख रचित श्रीकण्ठचरित, कविराज रचित राघवपाण्डवीय, श्रीहर्ष रचित नैषधीयचरित इत्यादि।

ऐतिहासिक काव्य – संस्कृत साहित्य कुछ महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिकता से सम्पन्न है, काव्यगत मूल्य तो उत्कृष्ट है ही, इतिहासगत मूल्य भी सन्तोषजनक है। ऐतिहासिक काव्यों का आरम्भ वस्तुतः अश्वघोष से होता है जिन्होंने गौतम बुद्ध जीवन–चरित पर 'बुद्धचरित' नामक महाकाव्य २८ सर्गों में लिखा। बुद्ध का जीवन इतिहास और धर्म दोनों का समन्वित रूप था क्योंकि वे छठी शताब्दी ई० पू० के इतिहास–निर्माता पुरुष थे तो एशिया के बड़े भूभाग में प्रचलित एक महान् धर्म के प्रवर्तक भी थे। महाकवि बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' के रूप में ८ उच्छ्वासों की आख्यायिका (गद्यकाव्य) लिखी जो कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें कवि की आत्मकथा. हर्ष के पूर्वजों का इतिवृत्त तथा हर्ष के राज्यकाल की आरम्भिक विपत्तियों का वर्णन है। वाक्पतिराज का गउड़वहो' प्राकृत भाषा का ऐतिहासिक काव्य है। 'राजतरङ्गिणी' में उल्लेख है कि कश्मीर नरेश ललितादित्य ने यशोवर्मा से सन्धि की थी किन्तु बाद में इस सन्धि का भङ्ग होने से उसे समूल नष्ट कर दिया। यह घटना ७४० ई० के आसपास हुई थी। इन प्राथमिक ग्रन्थों के द्वारा नियमित ऐतिहासिक महाकाव्यों की पृष्ठभूमि प्रस्तुत होती है। कुछ सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थों के नाम निम्नवत् हैं – पद्मगुप्त का नवसाहसाङ्कचरित, बिल्हण का विक्रमाङ्कदेवचरित, कल्हण की राजतरङ्गिणी, जल्हण रचित सोमपाल–विलास, जयानक रचित पृथ्वीराजविजय, जैनमुनि हेमचन्द्र रचित कुमारपालचरित, अन्य विद्वानों की रचनायें – कीर्तिकौमुदी, सुकृतसंकीर्तन, वसन्तविलास, मधुराविजय, हम्मीरमहाकाव्य, राठौरवंशकाव्य तथा कार्णाटराजतरङ्गिणी इत्यादि।

गीतिकाव्य – संस्कृत भाषा में कुछ ऐसे छोटे–बड़े काव्य मिलते हैं जिनका विषय शृंगार, नीति, भक्ति, वैराग्य आदि है और जिनमें आत्माभिव्यञ्जन की प्रधानता है, विषयवर्णन की नहीं। इन काव्यों को पाश्चात्त्य विद्वानों ने गीतिकाव्य या 'लिरिक' (Lyrical poetry) कहा है। गीतिकाव्य वह काव्य–प्रकार है जिसमें कवि अपने अन्तरग में स्थित कोमल भावों में से किसी एक को केन्द्र में रखकर कल्पना शक्ति के द्वारा उसे गेय बनाकर संक्षिप्त रूप में प्रकट करता है। कुछ प्रमुख गीतिकाव्य निम्न निम्न प्रकार से हैं – ऋतुसंहार, मेघदूत, गाथासप्तशती, घटकर्परकाव्य, भर्तृहरि के शतकत्रय (३४४), अमरुशतक, भल्लटशतक, बिल्हण की चौरपञ्चाशिका, जयदेव रचित गीतगोविन्द, गोवर्धनाचार्य रचित आर्यासप्तशती, जगन्नाथ रचित भामिनीविलास इत्यादि।

गद्यकाव्य – मानव की स्वाभाविक भाषा का स्वरूप गद्यात्मक होता है क्योंकि उसमें छन्द, गण या मात्रा की गणना नहीं होती। गद्य' शब्द गद्–धातु (व्यक्तायां वाचि) से

यत्–प्रत्यय लगकर बना है जिसका अर्थ है मानव की अभिव्यक्ति की मौलिक प्रक्रिया। बहुत दिनों तक संस्कृत गद्य अपने मौलिक और विकासात्मक रूप में प्रचलित रहा किन्तु ईस्वी सन् के आरम्भ में इसका एक काव्यात्मक रूप भी प्रकट हुआ जिसमें पद्यकाव्य की प्रमुख विशिष्टताएँ आ गयीं जैसे– अलंकार, भाषा की सजावट, लम्बे समासों का प्रयोग, भाव और रस का चमत्कार आदि। इसे 'सामान्य गद्य' नहीं, अपितु 'गद्यकाव्य' कहा गया। दण्डी ने काव्यादर्श में 'गद्यकाव्य' की परिभाषा देकर इसे आख्यायिका और कथा के रूप में विभाजित किया –**अपादः पदसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा।** (१/२३) यह गद्यकाव्य इतना कठिन और विरल हो गया कि आठवीं शताब्दी ई० में एक उक्ति चल पड़ी– **गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति** अर्थात् गद्यकाव्य लिखना कवियों की कड़ी परीक्षा है। संस्कृत में अनेक गद्यकाव्यों की रचना हुई, जिनमें प्रमुख हैं – दण्डी रचित दशकुमारचरित, सुबन्धु रचित वासवदत्ता, बाणभट्ट रचित हर्षचरित व कादम्बरी। अन्य गद्यकार भी प्रसिद्ध हैं जैसे – धनपाल, वादीभसिंह, प्रभाचन्द्र, मेरुतुंग, राजशेखर–सूरि, वामनभट्टबाण, विश्वेश्वर पाण्डेय, अम्बिकादत्त व्यास (४१०–४१२), हषीकेश भट्टाचार्य, क्षमाराव इत्यादि।

चम्पूकाव्य – काव्यात्मक गद्य में तत्सदृश पद्य का निवेश होने से 'चम्पू' नामक प्रबन्ध–काव्य निष्पन्न होता है। विश्वनाथ ने कहा है– **गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते (साहित्यदर्पण ६/३३६)**। एक आधुनिक विद्वान् हरिदास भट्टाचार्य ने इसकी कृत्रिम निरुक्ति दी है–चमत्कृत्य पुनाति, सहृदयान् विस्मयीकृत्य प्रसादयति। चम्पू में वर्णन के लिए गद्य और भावपूर्ण भाग के लिए पद्य का प्रयोग होता है। कुछ प्रसिद्ध चम्पूकाव्य निम्न हैं – त्रिविक्रमभट्ट रचित नलचम्पू, हरिश्चन्द्र रचित जीवन्धरचम्पू, सोमदेवकृत यशस्तिलकचम्पू, भोजकृत रामायणचम्पू, सोड्ढलकृत उदयसुन्दरीकथा, अनन्तभट्ट का भारतचम्पूकाव्य, तिरुमलाम्बा रचित वरदाम्बिकापरिणयचम्पू, कर्णपूरकृत आनन्दवृन्दावनचम्पू तथा वेंकटाध्वरी रचित चम्पूकाव्य इत्यादि।

लोककथा और नीतिकथा – संस्कृत भाषा में कथा–साहित्य का विकास दो दृष्टियों से हुआ है–शुद्ध मनोरञ्जन एवं नैतिक उपदेश । इसीलिए दो प्रकार की कथाएँ यहाँ प्राप्त होती हैं। जो कथाएँ शुद्ध मनोरञ्जन के लिए विकसित हुई हैं वे 'लोककथा' कही जाती हैं – इनमें बहुधा अद्भुत वृत्तान्त समाविष्ट होते हैं। दूसरी ओर कुछ कथाएँ नवशिक्षुओं को या सामान्य लोगों को नैतिक धार्मिक उपदेश देने के लिए विकसित हुई हैं उन्हें 'नीतिकथा' कहते हैं । इन कथाओं में प्रायः पशु–पक्षियों से सम्बद्ध कथाएँ दी गयी हैं जिनसे मनुष्य उपदेश ग्रहण कर सके कि जब पशु–पक्षी ऐसी बुद्धिमत्ता दिखा सकते हैं तब मनुष्यों को भी उनसे शिक्षा लेनी चाहिए। पशु–पक्षियों की प्रधानता के कारण इन्हें 'पशुकथा' भी कहते हैं । इन सभी कथाओं में कुतूहल और रोचकता के लिए छल–प्रपंच, प्रेम, विश्वासघात, स्वामिभक्ति, धर्म, नीति, स्त्रीपुरुषों के व्यवहार, सदाचार, उत्साहवर्धक कार्य आदि का वर्णन मिलता है जिनसे मनोरंजन और आचरण की शिक्षा मिलती है। ये कथाएँ सरल संस्कृत में लिखी गयी हैं जिससे संस्कृत सीखने वालों को भाषा की शिक्षा के साथ कल्पना के विस्तारण के लिए उचित परिवेश प्रदान किया जाता है। शताब्दियों से कथा कहने वालों और सुनने वालों की परम्परा सभी देशों में रही है – भारत तो सबका गुरु ही रहा है। यहाँ से विविध कथाएँ विभिन्न देशों में पहुँची हैं। संस्कृत साहित्य में अनेक कथा ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं जैसे – बृहत्कथा, बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, बृहत्कथामंजरी, कथासरित्सागर, वेतालपञ्चविंशति, सिंहासनद्वात्रिंशिका, शुकसप्तति, पञ्चतन्त्र, हितोपदेश, जातकमाला, उपमितिभवप्रपञ्चकथा इत्यादि।

रूपक – साहित्य के सभी प्रकारों में रूपक,या नाट्य श्रेष्ठ माना गया है। इसकी रचना को कवित्व की अन्तिम सीमा कहा जाता है– नाटकान्तं कवित्वम्। वामन ने काव्यालंकारसूत्र में (१/३/३०) कहा है– सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। कारण यह है कि यह चित्रपट के समान अनेक विशिष्टताओं से युक्त है। इतनी विशिष्टताएँ अन्य काव्य–भेदों में नहीं होतीं। रूपक में गद्य–पद्य दोनों का मिश्रण तो रहता ही है, इसे सुनने के अतिरिक्त देखा जाता है। श्रव्य की अपेक्षा 'दृश्य' का अधिक सघन प्रभाव होता है। काव्य को संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने दृश्य और श्रव्य के रूप में दो वर्गों में रखा है। दृश्यकाव्य के दो भेद हैं – रूपक तथा उपरूपक रूपक के दस और उपरूपक के अठारह प्रकार होते हैं। रूपकों का एक प्रमुख भेद 'नाटक' है। ये रूपक रसाश्रय होते हैं, केवल भाव पर आश्रित नहीं रहते।' इनके दस भेद किये गये हैं –

अवस्थानुकृतिर्नाट्य रूपं दृश्यतयोच्यते ।
रूपकं तत्समारोपाद् दशधैव रसाश्रयम् ।।
नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यंकेहामृगा इति ॥(दशरूपक १७–८)

रूपकों के जो दस भेद कहे गये हैं उनके मुख्य भेदक उपादान तीन हैं– कथानक,नायक और रस (**वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः,** दशरूपक १/११)। संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध रूपक निम्नलिखित हैं – भास रचित प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्त, प्रतिमानाटक, अभिषेकनाटक, ऊरुभंग, दूतवाक्य, पंचरात्र, दूतघटोत्कच, कर्णभार, मध्यमव्यायोग, बालचरित, अविमारक तथा चारुदत्ता, कालिदास रचित मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, शूद्रक रचित मृच्छकटिक, विशाखदत्त रचित मुद्राराक्षस, हर्षवर्धन रचित प्रियदर्शिका, रत्नावली व नागानन्द, भट्टनारायण रचित वेणीसंहार, भवभूति रचित मालतीमाधव, महावीरचरित, उत्तररामचरित इत्यादि।

काव्यशास्त्र (अलंकारशास्त्र) – संस्कृत भाषा में रम्य या हृदयावर्जक रचना की समीक्षा की पद्धति को काव्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र या आलोचनाशास्त्र कहते हैं। इस शास्त्र का आरम्भ अलंकारों के प्रयोग तथा विवेचन के द्वारा निरूपण किये जाने से इस शास्त्र का सर्वाधिक प्रचलित नाम 'अलङ्कारशास्त्र' हुआ। किन्तु विषय–व्यापकता की दृष्टि से 'काव्यशास्त्र' कहा जाना अधिक उचित और समर्थन–योग्य है। काव्य के अन्तर्गत नाटक, पद्य, गद्य, चम्पू तथा समस्त रम्य रचनाएँ समाविष्ट होती हैं। उनकी आलोचना अर्थात् रसास्वादन, तारतम्यता, प्रभावकता आदि की अभिव्यक्ति ही काव्यशास्त्र की संज्ञा से ग्राह्य है। काव्यशास्त्र में उन समस्त विषयों का ग्रहण होता है जिनका काव्य की रचना में भावात्मक या अभावात्मक योगदान है। इस प्रकार इसमें काव्य के लिए उपादेय (रस, ध्वनि, रीति, गुण, अलंकार) तथा हेय (दोष) विषयों का अनुशीलन होता है। इन्हीं के बल पर हम किसी रचनाकार या उसकी रचना की समीक्षा कर सकते हैं तथा दो लेखकों या उनकी कृतियों का तारतम्य निरूपित कर सकते हैं। यदि काव्यशास्त्रीय व्युत्पत्ति न हो तो सभी कवि एक ही समान लगेंगे। इसके प्रमुख ग्रन्थ निम्न हैं – भरतमुनि का नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण, भामह रचित काव्यालङ्कार, दण्डी रचित काव्यादर्श, उद्भट रचित अलंकारसारसंग्रह, वामन रचित काव्यालंकारसूत्र और भी अन्य आचार्यों के ग्रन्थ हैं जिनमें प्रमुख आचार्य हैं – रुद्रट, आनन्दवर्धन, मुकुलभट्ट, राजशेखर, धनञ्जय, अभिनवगुप्त, कुन्तक, महिमभट्ट, भोज, क्षेमेन्द्र, मम्मट, रुय्यक, सागरनन्दी, हेमचन्द्र, वाग्भट, रामचन्द्रगुणचन्द्र, अमरचन्द्र, देवेश्वर, जयदेव, शारदातनय, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ कविराज, केशव मिश्र, भानुदत्त,रूपगोस्वामी, कर्णपूर, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ, विश्वेश्वर पाण्डेय इत्यादि।

1.6 अन्य शास्त्र

१) आयुर्वेद (चिकित्साशास्त्र)

अथर्ववेद के उपवेद के रूप में भारतवर्ष में आयुर्वेद का विकास हुआ (आयुर्वेद नानोपाङ्गमथर्ववेदस्य, सुश्रुत सू. १/६०)। अथर्ववेद के विभिन्न सूक्तों में चिकित्सा के विविध पक्ष निर्दिष्ट हैं, वे सभी इस विज्ञान में विकसित हुए। रोग–प्रतीकार के लिए भैषज्य का विधान, सुखप्रसव तथा उसकी विकृति में शल्यकर्म, व्रण की चिकित्सा, शिशु–चिकित्सा इत्यादि अथर्ववेद में वर्णित हैं। सुश्रुत ने आयुर्वेद का निर्वचन किया है–**आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वा आयुर्विन्दति।** आयुर्वेद में तीन ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण माने गये हैं –चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता तथा वाग्भट के ग्रन्थ एक लोकोक्ति है –

सुश्रुते सुश्रुतो नैव वाग्भटे नैव वाग्भटः।
चरके चतुरो नैव स वैद्यः किं करिष्यति ॥

चरकसंहिता निश्चित रूप से आयुर्वेद का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। सुश्रुतसंहिता भी बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। वाग्भट के नाम से दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं– अष्टाङ्गसंग्रह तथा अष्टाङ्गहृदय। चक्रपाणिदत्त का चिकित्सासारसंग्रह भी उपयोगी ग्रन्थ है (१०६० ई०)। वङ्गसेन ने 'चिकित्सासार' के नाम से एक उपयोगी ग्रन्थ लिखा(१२वीं शताब्दी ई०) भावमिश्र (१६वीं शताब्दी ई०) का भावप्रकाश बहुत विस्तृत तथा बहुप्रचलित ग्रन्थ है। १७वीं–१८वीं शताब्दी में वैद्यजीवन, आयुर्वेदप्रकाश, योगतरङ्गिणी तथा भैषज्यरत्नावली नामक ग्रन्थ रचे गये, जो बहुप्रचलित हैं। आयुर्वेद के रसायन–विज्ञान पर रसरलाकर (नागार्जुन कृ त, ७वीं शताब्दी ई०), रसहृदयतन्त्र (गोविन्दकृत, १०वीं श०), रसेन्द्रचूडामणि (सोमदेवकृत, १२वीं श०), रसप्रकाशसुधाकर (यशोधरकृत), रसार्णव (१३वीं श०), रसराजलक्ष्मी (विष्णुदेवकृत, १४वीं श०), रसेन्द्रसारसंग्रह (गोपालभट्टकृत, १४वीं श०) इत्यादि प्रमुख ग्रन्थ हैं। वाग्भट का रसरत्नसमुच्चय (२० अध्याय) विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

२) कामशास्त्र

आयुर्वेद के वाजीकरण अध्याय में ही कामशास्त्र का संग्रह होता है। जीवन के चार लक्ष्यों में काम का ग्रहण होने से इसका विवेचन भारत के विद्वानों ने प्राचीन काल से ही किया था। नायिकाओं के हाव–भाव के वर्णन के लिए यह काव्यशास्त्र की भी परिधि में प्रवेश करता है। इस विषय के ५–६ ग्रन्थ संस्कृत में मिलते हैं। जिनमें वात्स्यायन का 'कामसूत्र' सबसे प्राचीन तथा प्रसिद्ध है। इसका रचनाकाल तृतीय शताब्दी ई० है। इस पर चौहान–नरेश वीसलदेव (१२४३–६१ ई०) के आश्रित यशोधर ने 'जयमङ्गला' नामक व्याख्या लिखी है जिसमें अनेक अज्ञात शब्दों की व्याख्या है। इस शास्त्र के अन्य ग्रन्थ हैं–ज्योतिरीश्वर (१२६५–१३२४ ई० तक राज्य करने वाले हरिसिंहदेव के आश्रित) का 'पञ्चसायक', कोक्कोक या कोक्कन का 'रतिरहस्य' (१२वीं श०), जयदेव की 'रतिमञ्जरी', कल्याणमल्ल का 'अनङ्गरङ्ग' (१६वीं श०), वीरभद्रकृत 'कन्दर्पचिन्तामणि' इत्यादि ।

३) कोशग्रन्थ

वैदिक युग में ही वेदों के अर्थ–ज्ञान के लिए कोशविद्या का उद्‌भव हुआ। 'निघण्टु' के रूप में वैदिक शब्दों के संग्रह के अनेक प्रयास हुए। यद्यपि अनेक कोशों की रचना के प्रमाण मिलते हैं, किन्तु अभी उपलब्ध कोशों में प्राचीनतम

'अमरकोश' ही है। अमरकोश' का वास्तविक नाम 'नामलिङ्गानुशासन' है। इसके रचयिता बौद्ध लेखक अमरसिंह का काल तृतीय शताब्दी ई० माना जाता है। अमरसिंह के बाद भी कई कोशग्रन्थों की रचना हुई। प्रायः षष्ठ शतक ई० में शाश्वत ने अनेकार्थसमुच्चय (नानार्थकोश या शाश्वतकोश के नाम से प्रसिद्ध) की रचना की। धनञ्जय ने २०० श्लोकों की नाममाला, अनेकार्थनाममाला (पूरक रूप में) तथा अनेकार्थनिघण्टु (१५३ श्लोक) –ये तीन कोश लिखे। पुरुषोत्तमदेव बौद्ध लेखक थे। लक्ष्मणसेन (११७०–१२०० ई०) के आदेश पर उन्होंने व्याकरण तथा कोश के ग्रन्थ लिखे थे। इनके तीन कोशग्रन्थ हैं–अमरकोश के पूरक के रूप में त्रिकाण्डशेष (१०५३ श्लोक, तीन काण्ड, २५ वर्ग), हारावली (२७० श्लोक, समानार्थक तथा नानार्थक–दो खण्ड) तथा वर्णदेशना (गद्य में वर्तनी अर्थात् स्पेलिंग की विवेचना)। इन्हीं के नाम से एकाक्षरकोश और द्विरूपकोश भी प्रसिद्ध हैं। हलायुध की अभिधानरत्नमाला (हलायुधकोश के नाम से विख्यात) दशमशती ई० का ग्रन्थ है। यादवप्रकाश रामानुज (१०५५–११३७ ई०) के विद्यागुरु थे, स्वयम् अद्वैतवेदान्ती थे। इन्होंने वैजयन्ती नामक कोशग्रन्थ लिखा। महेश्वर का विश्वप्रकाश ११११ ई० में लिखा गया। वर्णानुक्रम की आधुनिक पद्धति से अजयपाल ने नानार्थसंग्रह १२वीं शती में ही लिखा। ये बौद्ध थे। मेदिनीकार ने विश्वप्रकाश' से आगे बढ़ने के लिए एक अन्य नानार्थकोश बनाया जिसे 'मेदिनीकोश' के नाम से प्रसिद्धि मिली। अन्य कोशों में मंख–कृत अनेकार्थकोश, (११५० ई०), हेमचन्द्रकृत अभिधानचिन्तामणि' (ग्रन्थकार की टीका सहित भावनगर से प्रकाशित) इत्यादि प्रायः १० कोश हैं।१९वीं शताब्दी में पाश्चात्त्य पद्धति से वर्णों के अनुक्रम से संस्कृत में राजा राधाकान्तदेव ने 'शब्दकल्पद्रुम' (संकलन १८२२–५८ ई०) का निर्माण कराया ऐसा ही विशाल कोश तारानाथ तर्कवाचस्पति ने 'वाचस्पत्य' (१८७३–८४ ई०) के नाम से बनाया। इस प्रकार संस्कृत का कोश–साहित्य बहुत समृद्ध है।

४) छन्दःशास्त्र

वैदिक काल के सीमित छन्दों का संस्कृत में बहुत विकास हुआ, अनेक नये–नये छन्द आये और उन्हें सुघटित करने के लिए गणों तथा यति का निर्धारण हुआ। वैदिक अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् तथा जगती छन्द भी व्यवस्थित तथा सुडौल बन गये। गण तीन वर्गों का होता है, गुरु–लघु के निश्चित क्रम से आठ गण होते हैं–इनके द्वारा ही सभी वर्णवृत्तों को नियन्त्रित किया जाता है। यति' या विराम किसी अक्षर पर (जैसे–चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम आदि) रुकने का नाम है। संस्कृत के सामान्य छन्दों के लक्षण में गण और यति की चर्चा होती है। छन्द के चार चरण अनिवार्य हैं जो सभी सम या अर्धसम या विषम भी हो सकते हैं। अधिसंख्यक छन्द समवृत्त ही हैं। कुछ छन्दों में (जैसे–आर्या) मात्राओं की गणना होती है, यद्यपि गुरु–लघु या गण का बन्धन वहाँ भी रहता है। इस प्रकार वैदिक छन्दों से भिन्न धरातल पर विकसित होने से छन्दग्रन्थों की भी रचना अनिवार्य हो गयी। प्रथम छन्दःशास्त्रकार पिङ्गलाचार्य के नाम पर इस शास्त्र को भी 'पिङ्गलशास्त्र' कहा गया। इसमें छन्दों के लक्षण के अतिरिक्त प्रस्तार'–जैसे गणितविषय भी आये। संस्कृत काव्यों में विपुल रूप से प्रयुक्त अनुष्टुप्, उपजाति, वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, शालिनी, वसन्ततिलका, मालिनी, हरिणी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा तथा आर्या छन्द हैं। अनुष्टुप् सबसे छोटा (८/४) छन्द है, स्रग्धरा सबसे बड़ा (२१/४)।

छन्द पर प्राचीनतम ग्रन्थ पिङ्गलकृत छन्दःसूत्र है। ६०० ई० पू० इसका समय सम्भव है। जानाश्रयी छन्दोविचिति नामक सूत्रात्मक ग्रन्थ ६०० ई० के आसपास

लिखा गया। इसके लेखक 'जनाश्रय' उपाधिधारी राजा माधववर्मा (राज्यकाल ५८०–६२० ई०) थे। जयदेवकृत 'जयदेवच्छन्दः' तथा जयकीर्ति कृत 'छन्दोऽनुशासन' में भी पिङ्गल के छन्दःसूत्र के समान आठ–आठ अध्याय हैं। मध्यकाल के ग्रन्थों में केदारभट्ट कृत 'वृत्तरत्नाकर' बहुत लोकप्रिय है। वृत्तरत्नाकर पर त्रिविक्रम, सुल्हण, सोमचन्द्र गणि, रामचन्द्र, नारायण भट्ट (१६८० ई०) इत्यादि १५ विद्वानों की टीकाएँ हैं।

क्षेमेन्द्रकृत सुवृत्ततिलक',हेमचन्द्रकृत छन्दोऽनुशासन',गङ्गादासकृत छन्दोमञ्जरी' (१५०० ई०), चन्द्रशेखरकृत 'वृत्तमौक्तिक' (१६२० ई०), कृष्णभट्टकृत 'वृत्तमुक्तावली' (१७४० ई० के आसपास) तथा दुरूखभञ्जन कवि (काशी के महान विद्वान)–कृत वाग्वल्लभ' (१६०३ ई०) छन्दःशास्त्र के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। प्रत्येक की अपनी विशिष्टता है।

५) राजशास्त्र (अर्थशास्त्र)

यद्यपि धर्मशास्त्र की विषयवस्तु में भी राजा के धर्म के अन्तर्गत राजनीति या राजशास्त्र का अनुशीलन होता रहा है तथापि इसमें प्रतिपाद्य विषयों के सम्यक् विवेचन के लिए एक पृथक् शास्त्र की आवश्यकता हुई। इसे राजशास्त्र, राजनीति, दण्डनीति या अर्थशास्त्र भी कहा गया। सम्भवतः धर्मशास्त्र के अन्तर्गत गौण स्थान होने के कारण इसे प्रधानता–प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र बनना पड़ा। धर्मशास्त्र आदर्श को लेकर चलता है जबकि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध लाभ से है। धर्म का उपयोग राजा के हित में जहाँ तक हो सके, वहीं तक यह शास्त्र धर्मशास्त्र से सम्बद्ध है। 'अर्थशास्त्र' का निर्वचन करते हुए कौटिल्य ने कहा है– **मनुष्याणां वृत्तिरर्थः, मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः, तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रम् अर्थशास्त्रमिति (अर्थशास्त्र १५/१)** अर्थात् 'अर्थ' शब्द मानवों की गतिविधि या मानव–युक्त पृथ्वी (राज्य) का बोधक है। उसे प्राप्त करने और पालन (रक्षा) करने के उपाय के रूप में जो नियम हैं वही 'अर्थशास्त्र' है। कौटिल्य को अर्थशास्त्र की महनीय परम्परा मिली थी, कई आचार्यों के नाम उन्होंने लिये हैं। राजशास्त्र में कौटिलीय अर्थशास्त्र का ही प्रथम ग्रन्थ के रूप में सम्मान है। अर्थशास्त्र की रचना ३०० ई० पू० में कौटिल्य (या कौटल्य) के द्वारा की गयी थी। यह भारतीय राजशास्त्र का गौरवग्रन्थ है। कौटिलीय अर्थशास्त्र पर ही आश्रित एक पद्यात्मक ग्रन्थ कामन्दकीयनीतिसार है। प्रायरू सप्तम शताब्दी ई० में इसका काल माना जाता है। 'यशस्तिलकचम्पू' के लेखक सोमदेव सूरि ने ६५६ ई० (यशस्तिलक का रचनाकाल) के कुछ ही पश्चात् 'नीतिवाक्यामृत' नामक अत्यधिक रोचक राजशास्त्रीय ग्रन्थ लिखा। एक परवर्ती रचना 'शुक्रनीतिसार' है जिसमें २२०० पद्य हैं। इसे किसी विशालकाय ग्रन्थ का संक्षेप कहा जा सकता है। अन्य राजनीतिक ग्रन्थों में भोज का 'युक्तिकल्पतरु' चण्डेश्वर का 'नीतिरत्नाकर' तथा 'नीतिप्रकाशिका' भी उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त दर्शनशास्त्र की एक सुदीर्घ परम्परा संस्कृत वाङ्मय में विद्यमान है। छः मुख्य आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन है। जिनमें प्रत्येक दर्शन में विशाल संस्कृत साहित्य का भण्डार उपलब्ध है, जिसका विस्तार भय से यहां वर्णन नहीं किया जा रहा है।

1.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने अत्यन्त संक्षेप में सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय का निदर्शन प्राप्त किया। भाषाविद् विद्वानों के अनुसार संस्कृत भारोपीय परिवार के दो वर्ग – केन्तुम् तथा शतम् में से शतम् वर्ग में भारत–ईरानी (आर्य) समाहित है। वेद संस्कृत भाषा में

रचित सर्वप्राचीन साहित्य है। परन्तु उसमें प्रयुक्त संस्कृत का स्वरूप बाद की संस्कृत से बहुत भिन्न था। अतः उसे वैदिक संस्कृत कहा गया। तथा कालान्तर में लोक व्यवहार में प्रचलित संस्कृत को लौकिक संस्कृत कहा गया। अनेक ऐसे प्राचीन प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में संस्कृत लोक व्यवहार में प्रयुक्त होती थी और कालान्तर में स्थानीय भाषाओं का व्यवहार प्रारम्भ हुआ। संस्कृत भाषा में विपुल साहित्य की रचना हुई। वेद और उसके उपरान्त उसके शिक्षा, कल्प, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष के रूप में छः वेदाङ्ग निर्मित हुए। वेदों का , भी विस्तार, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद के रूप में हुआ। उसके उपरान्त अथाह पुराण साहित्य, आयुर्वेदशास्त्र, षड्दर्शन, तन्त्र, कामशास्त्र, राजशास्त्र, महाकाव्य, गीतिकाव्य, गद्यकाव्य, पद्यकाव्य, चम्पूकाव्य, दश प्रकार के रूपक, कथा साहित्य इत्यादि की रचना हुई। जिन सभी का संक्षेप निदर्शन भी एक इकाई में संभव नहीं था, तथापि अत्यन्त संक्षेप में यथासंभव संस्कृत वाङ्मय का परिचय इस पाठ में प्रदान किया गया।

1.8 पारिभाषिक शब्दावली

वेद – **विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति वेदः** अर्थात् जिसके द्वारा कोई ज्ञान प्राप्त किया जाये वहीं वेद है।

काव्य – 'कवि के कर्म' के रूप में जाना जाता है– **कवेः कर्म काव्यम् (कविण्यत्)**। यह 'कवि' शब्द 'कु' अथवा 'कव्' धातु (भ्वादि आत्मनेपद–कवते) से बना है जिसका अर्थ है– ध्वनि करना, विवरण देना, चित्रण करना इत्यादि।

कल्प – विभिन्न वैदिक शाखाओं के ब्राह्मण–ग्रन्थों में विहित कर्मों का व्यवस्थित वर्णन करने वाला वेदाङ्ग 'कल्प' कहा गया है।

निरुक्त – वैदिक शब्दों का निर्वचन अर्थात् अर्थ का निर्णय करने वाला वेदाङ्ग 'निरुक्त' (निस्वच्क्त) है।

उपनिषद् – 'उप' तथा 'नि' इन दो उपसर्गों के बाद सद्–धातु से क्विप प्रत्यय लगकर 'उपनिषद्' शब्द निष्पन्न होता है। साधारणतः इसका अर्थ होता है–गुरु के समीप बैठकर प्राप्त किया गया ज्ञान।

गद्य – गद्य' शब्द गद्–धातु (व्यक्तायां वाचि) से यत्–प्रत्यय लगकर बना है जिसका अर्थ है मानव की अभिव्यक्ति की मौलिक प्रक्रिया।

शिक्षा – जिस शास्त्र में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम तथा सन्तान – इन छः विषयों का उपदेश हो उसे 'शिक्षा' कहते हैं

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क) राजतरंगिणी, मूल लेखक – कल्हण, टीकाकार – रघुनाथ सिंह, प्रकाशक– हिन्दी प्रचारक संस्था वाराणसी।

ख) रामायण, मूल लेखक – महर्षि वाल्मीकि, प्रकाशक, गीताप्रेस, गोरखपुर

1.10 सहायक पाठ्यसामग्री

संस्कृत साहित्य का इतिहास – डॉ. उमाशंकर शर्मा

संस्कृत साहित्य की रूपरेखा – चन्द्रशेखर पाण्डेय तथा शान्तिकुमार व्यास

संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास – डॉ. सूर्यकान्त

संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास – डॉ. कपिलदेव द्विवेदी

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – सुशील कुमार डे

संस्कृत साहित्य का इतिहास – आचार्य बलदेव उपाध्याय

प्राचीन भारत का इतिहास – डॉ. भगवतशरण उपाध्याय

1.11 बोध प्रश्न

1. संस्कृत भाषा के उद्भव व वैशिष्ट्य का वर्णन करें।
2. वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय प्रदान करें।
3. वेदाङ्गों का संक्षिप्त वर्णन करें।
4. काव्य शास्त्र का संक्षिप्त परिचय प्रदान करें।
5. आयुर्वेद का परिचय प्रदान करें।

इकाई 2 ज्योतिष शास्त्र का परिचय

इकाई की संरचना

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- प्रस्तुत कर सकेंगे कि ज्योतिष किसे कहते है।
- ज्योतिष शास्त्र के इतिहास का संक्षिप्त परिचय प्रदान कर सकेंगे।
- ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख स्कन्धों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेंगे।
- ज्योतिष शास्त्र के प्रवर्तकों के सन्दर्भ में ज्ञान जानेंगे।
- ज्योतिष शास्त्र की उपयोगिता को प्रस्तुत कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

भारतीय ज्ञान – विज्ञान की परम्परा में वेद को सभी विद्याओं का मूल कहा गया है। वेद के छः अंग हैं – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द एवं ज्योतिष । वेद के चक्षुरूपी अंग को आचार्यों द्वारा ज्योतिष शास्त्र की संज्ञा प्रदान की गयी है। भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थ में ज्योतिष को परिभाषित करते हुए लिखा है कि –

> **वेदस्य निर्मलं चक्षुः ज्योतिष्शास्त्रमकल्मषम्।**
> **विनैतदखिलं श्रौतं स्मार्तं कर्म न सिद्ध्यति।।**

ज्योतिष वेद का निर्मल चक्षु है, जो दोषरहित है और इसके ज्ञान के अभाव में समस्त वेद प्रतिपाद्य विषय जैसे– श्रौत, स्मार्त यज्ञादि क्रिया की सिद्धि नहीं हो सकती। भारत देश के अलौकिक बुद्धिमान, महान तपस्वी व त्रिकालदर्शी महर्षियों ने अपने तपोबल के आधार पर आम जनमानस के लाभार्थ जो अनेक शास्त्र निर्माण किये, उनमें

ज्योतिषशास्त्र का स्थान सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि सृष्टि के प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति, प्रगति व लयादि कालाधीन है और उस काल का सम्पूर्ण वर्णन तथा शुभाशुभ परिणाम आकाशस्थ ग्रहों की गति व स्थिति पर निर्भर है। इन्हीं ग्रहों की शुभाशुभ स्थितियों से जगत के प्राणियों का सुख दुःख, हानि–लाभ, जीवन–मरण पूर्णरूप से संबंधित है। अतः ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान मानव के जीवन में घटित होने वाली शुभाशुभ घटनाओं को जानने के लिये अधिक महत्वपूर्ण है।

ज्योतिषशास्त्र का विकास मानव जीवन के विकास के साथ ही हुआ। मनुष्य स्वभावतः जिज्ञासु होता है। इस जिज्ञासा के फलस्वरूप वह प्रत्येक बात की गहराई में जाना चाहता है वह जानना चाहता है कि कब? क्यों? और कैसे? जगत् का समस्त विकास इसी जिज्ञासा का परिणाम है। मानव ने जब कभी आकाश की ओर दृष्टि डाली होगी तब उसके मस्तिष्क में यह उत्कण्ठा उत्पन्न हुई होगी कि ये तारे, ग्रह, नक्षत्र क्या वस्तु हैं? तारे टूटकर क्यों गिरते हैं ? सूर्य प्रतिदिन पूर्व से ही क्यों उदित होता है तथा ऋतुओं का आगमन क्रमानुसार ही क्यों होता है ? आकाशीय घटनाएँ मानव को आकर्षित करती रही हैं। ज्योतिषशास्त्र की उत्पत्ति इसी आकर्षण का परिणाम है। आप लोगों को ज्योतिषशास्त्र के प्रति आकर्षण एवं जिज्ञासा का भाव होने के कारण ही आप इस शास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त हुए हैं। प्रस्तुत इकाई 'ज्योतिष शास्त्र का परिचय' नामक शीर्षक से सम्बन्धित है। सामान्यतया आकाश में स्थित ग्रह, नक्षत्रादि पिण्डों की गति, स्थिति एवं उसके प्रभावादि निरूपण का अध्ययन हम जिस शास्त्र के अन्तर्गत करते हैं, उसे ज्योतिषशास्त्र कहा जाता है।

भारतीय वैदिक सनातन परम्परा में ज्योतिषशास्त्र को सर्वविद्यामूलक वेद का अंग होने के कारण 'वेदांग' कहा गया है। इन्हीं वेदांगों को 'शास्त्र' भी कहा जाता है। यह शास्त्र हमारे प्राचीन ऋषियों की देन हैं। कालनियामक होने के कारण इसे कालशास्त्र भी कहा जाता है।इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप ज्योतिषशास्त्र से परिचित हो सकेंगे तथा उसके मूलभूत विषयों को समझने में समर्थ हो सकेंगे।

2.2 ज्योतिष शास्त्र का सामान्य परिचय

ज्योतिष शब्द की व्युत्पत्ति **'द्युतेरिसिन्नादेशश्च जः'** सूत्र द्वारा की गई है। अर्थात् 'द्युत् दीप्तौ' धातु से इसिन् प्रत्यय तथा दकार को जकारादेश करके ज्योतिष् या ज्योतिः शब्द बना, पुनः **'अर्शआदिभ्योऽच्'** से अच् प्रत्यय करके ज्योतिष अकारान्त शब्द निर्मित हुआ है। पुनः 'तदधिकृत्य कृतो ग्रन्थः' इस पाणनीय सूत्र से अण् प्रत्यय करने पर ज्यौतिष शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होगा ज्योतिषसम्बन्धी सिद्धान्त या ग्रन्थ। 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है– (1) **'शासनात् शास्त्रम्'** अर्थात् करणीय अकरणीय, कर्तव्याकर्तव्य के विषय में जो आज्ञा दे, वह शास्त्र है। (2) शास्त्रत्वं शंसनादपि अर्थात् किसी उद्देश्य विशेष जो सम्पूर्ण अर्थों का ज्ञान करा दे, वही शास्त्र है। दोनों व्युत्पत्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो किसी वस्तु के स्वरूप को ठीक–ठीक समझा दे अर्थात् सत्य का ज्ञान करा दे, उसे शास्त्र कहते हैं। अतएव ज्योतिषशास्त्र का अर्थ हुआ–ग्रह–नक्षत्रादि प्रकाशपिण्डों के माध्यम से सत्य का ज्ञान तथा अज्ञानादि की निवृत्ति।

ज्योतिषशास्त्र की परिभाषा **'ज्योतिषां सूर्यादिग्रहाणां** बोधकं शास्त्रम्' से भी की गई है अर्थात् सूर्यादि ग्रह और काल का बोध कराने वाला शास्त्र ज्योतिषशास्त्र कहलाता है। जिसके अन्तर्गत ग्रह, नक्षत्र, ग्रहाचार, उदय–अस्त, धूमकेतु ग्रहों का परिभ्रमण, ग्रहण, ग्रहों की स्थिति और उनका मानवजीवन पर प्रभाव आदि विषयों का अध्ययन किया जाता है।

कुछ विद्वानों के अनुसार नभोमण्डल में स्थित ज्योति सम्बन्धित विद्या को ज्योतिर्विद्या कहते हैं तथा जिस शास्त्र में इस विद्या का साङ्गोपाङ्ग निरुपण किया जाता है वहज्योतिषशास्त्र है।

ज्योतिषशास्त्र का एक अन्य नाम ज्योतिःशास्त्र भी है जिसका अर्थ प्रकाशदायक अथवा प्रकाश से सम्बन्धित शास्त्र होता है । अर्थात् जिस शास्त्र से संसार का मर्म, जीवन–मरण का रहस्य और जीवन के सुख–दुःख के सम्बन्ध में पूर्णप्रकाश प्राप्त होता है वह ज्योतिषशास्त्र है। संक्षेप में ज्योतिर्मय जाग्रत् जगत् की एक दिव्य ज्योति का नाम ही जीवन है और ज्योति का पर्याय ज्योतिष है।

ग्रह नक्षत्रादि खगोलीय ज्योतिष्पिण्डों का प्रतिपादन जिसमें हो वह 'ज्योतिष' कहलाता है अथवा जिस शास्त्र में ग्रह–नक्षत्र विज्ञान तथा संसार के शुभाशुभ का ज्ञान हो उसे ज्योतिष कहते हैं ।

ज्योतिषशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के जन्म–जन्मान्तरों से जुड़ा हुआ है। ज्योतिषशास्त्र का दूसरा नाम 'कालविधान शास्त्र' है। क्योंकि काल का निरूपण भी ज्योतिषशास्त्र द्वारा ही होता है। काल के प्रभाव के सम्बन्ध में **'कालाधीनं जगत् सर्वम्'** तथा **'कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः'** ये सूक्तियाँ ही प्रसिद्ध हैं। मानव जीवन काल तथा कर्म के अधीन होता है। जैसा कि आचार्य वराहमिहिर ने लघुजातक ग्रन्थ में लिखा है –

यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाऽशुभं तस्य कर्मणः पंक्तिम्।
व्यञ्जयति शास्त्रमेतत् तमसि द्रव्याणि दीप इव॥

अर्थात् पूर्वजन्म के कर्मानुसार ही मनुष्य का जन्म, उसकी प्रवृत्तियाँ तथा उसके भाग्य का निर्माण होता हैं।

इस ब्रह्माण्ड में जो भी चराचर जीव हैं उनमें पंचमहाभूत, तीनों गुण (सत्व, रज, तम) सात प्रकार की धातुएँ आदि ग्रहनक्षत्रादि के प्रभाव से रहते है। इनमें से किसी में पार्थिव तत्व अधिक पाया जाता है तो किसी में जल, किसी में अग्नितत्व, किसी में वायु तत्त्व तो किसी में आकाश तत्त्व का अंश अधिक होता है। किसी जातक में सत्वगुण, किसी में तमोगुण तो किसी में रजोगण अधिक होता है। प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक संरचना भी विशेष प्रकार की होती है। इन सभी परिस्थितियों का कारण ग्रहयोगबल है। जिस जातक का जैसा पूर्वजन्मार्जित कर्म रहता है वह उसी प्रकार की ग्रहस्थिति में उत्पन्न होकर जीवन भर कर्मानुसार शुभाशुभ फल का भोग करता रहता है। इन विषयों से सम्बद्ध सिद्धान्तों का ऋषि– महर्षियों ने प्रवर्तन किया। और वे सिद्धान्त ही ज्योतिषशास्त्र का मूलाधार बने।

2.2.1 ज्योतिष की परिभाषा व स्वरूप

'ब्रह्मपुराण' के अध्याय २४ में आकाश के अपरिमित विस्तार का वर्णन दिया गया है और २५वे अध्याय में भगवान् नारायण का, शिशुमार–आकृति का जो आकाश में विराट रूप है उसका वर्णन करते हुए लिखते हैं –

तारामयं भगवतः शिशुमाराकृतिप्रभोः ।
दिवि रूपं हरेर्यत्तु तस्य पुच्छे स्थितो ध्रुवः।।

'श्रीमद्भागवत' पञ्चम स्कन्ध के अध्याय २२–२५ में भी आकाश का विस्तृत वर्णन किया गया है। शिशुमार चक्र का वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'सप्त ऋषियों' (सात तारों का मण्डल) से तेरह लाख योजन ऊपर ध्रुवलोक है । काल द्वारा जो ग्रहनक्षत्रादि

ज्योतिर्गण निरन्तर घुमाये जाते हैं उन सबके आधारस्तम्भ रूप से 'ध्रुव' है । बहुत से शास्त्रों में इस आकाशीय विस्तृत तारामण्डल का 'शिशुमार' इस नाम से वर्णन है। यह शिशुमार कुण्डली मारे हुए है और इसका मुख नीचे की ओर है। इसकी पूछ के सिरे पर ध्रुवस्थित है। ऐसी स्थिति मे अभिजित् से लेकर पुनर्वसु तक चौदह नक्षत्र इसके दाहिने भाग में है तथा पुष्य से लेकर उत्तराषाढ पर्यन्त चौदह नक्षत्र इसके बाये भाग में है। इसकी पीठ में अजवीथी (मूल, पूर्वाषाढ और उत्तराषाढ नामक नक्षत्रों के समूह) है और उदर (पेट) में आकाश–गगा है। इसके दाहिने और बाये कटि–तटों में पुनर्वसु और पुष्य नक्षत्र है, पीछे के दाहिने और बाये चरणों में आर्द्रा और आश्लेषा नक्षत्र है तथा दाहिने और बाये नथुनो में क्रमश अभिजित और उत्तरापाढ नक्षत्र हैं। इसी प्रकार दाहिने और बाये नेत्रो में श्रवण और पूर्वाषाढा नक्षत्र दाहिने और बाये कानो में धनिष्ठा और मूल नक्षत्र हैं। मघा, पूर्वा फाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा –ये ८ नक्षत्र शिशुमार की बायी पसलियो में तथा मृगशिरा, रोहिणी, कृत्तिका, भरणी, अश्विनी, रेवती, उत्तराभाद्र तथा पूर्वाभाद्र नक्षत्र तथा अभिजित् को मिलाकर कुल ८ दाहिनी पसलियो में हैं। शतभिषा और ज्येष्ठा ये दो नक्षत्र क्रमशः दाहिने और बाये कंधो की जगह हैं । इस 'शिशुमार' की ऊपर की थूथनी मे अगस्त्य, नीचे की ठोड़ी में नक्षत्र–रूप यम, मुखों में मगल, लिंग–प्रदेश में शनि, ककुद् में बृहस्पति, छाती में सूर्य, हृदय में नारायण, मन में चन्द्रमा, नाभि में शुक्र, स्तनो में अश्विनीकुमार, प्राण और अपान में बुध, गले में राहु, समस्त अंगो में केतु और रोमो में सम्पूर्ण तारागण स्थित है।

'एतद् है व भगवतो विष्णोः सर्वदेवतामयं रूपम्' अर्थात् यह भगवान् विष्णु का सर्वदेवमय स्वरूप है। इस विष्णुस्वरूप द्वारा अनन्त–ब्रह्माण्डनायक पृथ्वी के चराचर प्राणियो की, स्थावर जगम सभी पदार्थों की–सृष्टि–स्थिति–विलय करते हैं। इसी नारायणी शक्ति का पृथ्वी के जीवों पर, अन्न आदि पदार्थों पर, सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्थानों पर, आर्थिक तथा व्यापारिक जगत् पर क्या प्रभाव पड़ता है? यह ज्योतिप का विपय है।

यह पौराणिक मत है । शुद्ध ज्योतिष के दृष्टिकोण से हमारी पृथ्वी ब्रह्माण्ड का एक अणु मात्र है जो समस्त सौर (सूर्य)–मडल, अनन्त कोटि तारागण, ग्रहों आदि से प्रभावित है।

दार्शनिक मत से नारायण के शरीर में ग्रह–सचार से जो कुछ होता है उसका प्रभाव नर (मनुष्य) पर भी पड़ता है। –**'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'** यह दर्शन का सुपरिचित और सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है–अर्थात् जो–कुछ इस शरीर पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है । ब्रह्माण्ड बडे पैमाने पर शरीर (पिंड) है । इस शरीर (पिंड) के अन्तर्गत रहने वाला मायावच्छिन्न आत्मा है । अखिल ब्रह्माण्ड की केन्द्रीय चित् शक्ति परमात्मा है। **जीवो ब्रह्मैव नापरः** जो जीव है वही ब्रह्म है–यह वेदान्त सिद्धान्त विदित ही है । जिस तरह उपर्युक्त वर्णित तारामय विष्णु का विराट् शरीर कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड के विराटतम विष्णु परिमाण के मुकाबले में एक अणुमात्र है उसी प्रकार शिशुमार–रूपी विष्णु शरीर के मुकाबले में मनुष्य–शरीर एक अणु मात्र है, किन्तु नारायण का अंश होने से नर में भी सब कुछ है जो नारायण में है।

ज्योतिष शास्त्र का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उसे एक वाक्य में परिभाषित करना कठिन है, तथापि अनेक आचार्यों ने इसे अलग–अलग रूप में परिभाषित किया है। जिसमें एक परिभाषा है **"ज्योतिषं सूर्यादिग्रहाणां बोधकं शास्त्रम्"** अर्थात् जिस शास्त्र में सूर्यादि ग्रहों की गति, स्थिति सम्बन्धि समस्त नियम, एवं उसके भौतिक पदार्थो के उपर पड़ने वाला प्रभाव का वैज्ञानिक रीति से विश्लेषण किया जाता है, उसे ज्योतिष शास्त्र कहते है। आकाश में स्थित ग्रहपिण्डों एवं नक्षत्रपिण्डों की गति, स्थिति

तथा उसके प्रभावादि का निरूपण जिस शास्त्र के अन्तर्गत किया जाता हैं, उसे 'ज्योतिष' कहते है। ज्योतिष को अन्य प्रकार से भी परिभाषित करते है –**ग्रहगणितं ज्योतिषम्**। अर्थात् ग्रहों का गणित जिस शास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है उसे ज्योतिष कहते है।

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म, यागादिरेव धर्म इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है कि वेद का मुख्य प्रयोजन है– यज्ञसम्पादन।याज्ञिक क्रिया भी कालविशेष में ही किये जाने पर ही सफल होती है। उस कालविशेष का निर्धारण ज्योतिषशास्त्र के द्वारा ही सम्भव है, अन्य किसी शास्त्र के द्वारा नहीं। अतः आचार्य लगध ने वेदाङ्ग ज्योतिष ग्रन्थ में कहा–

वेदास्तु यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्व्या विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रम् यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान्।।

इस सन्दर्भ में भास्कराचार्य जी का भी कथन है–

वेदास्तावद्यज्ञकर्मप्रवृत्ताः यज्ञाः प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद्वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात्।।

यज्ञादि कर्मों के द्वारा मनुष्य को इष्ट की प्राप्ति व उसके अनिष्ट का परिहार करना वेद का परम लक्ष्य है। उपर्युक्त यज्ञादि कर्म काल पर आश्रित हैं और इस परम पवित्र कार्य के लिए काल का विधायक शास्त्र ज्योतिष शास्त्र है। अतः इसे वेदांग की संज्ञा दी गई। व्याकरण, ज्योतिष, निरूक्त, कल्प, शिक्षा और छन्द ये छः वेद के अंग कहे गये हैं। जिनमें ज्योतिष शास्त्र नेत्र रूप में प्रसिद्ध है।

प्रारम्भ में ज्योतिष शास्त्र का समग्र वर्णन वेद के अन्तर्गत ही मिलता है, परन्तु स्वतन्त्र ग्रन्थ का श्रेय वस्तुतः आचार्य लगध को जाता है। उन्होंने ही वेदांग ज्योतिष की रचना कर ज्योतिष शास्त्र को स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादित किया। यद्यपि ज्योतिष आज भी वहीं है, जो पूर्व में था, केवल काल भेद के कारण इसके स्वरूपों में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। भगवान सूर्य के अंशावतार ने भी सूर्यसिद्धान्त में यही कहा है कि –

शास्त्रमाद्यं तदेवेदं यत्पूर्वं प्राह भास्करः।
युगानां परिवर्तनं कालभेदोऽत्र केवलः।।

2.2.2 ज्योतिष शास्त्र का इतिहास

आचार्य कमलाकर भट्ट ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्ततत्वविवेक में ज्योतिष शास्त्र के ज्ञानोपदेश का उल्लेख इस प्रकार किया है –

ब्रह्मा प्राह च नारदाय, हिमगुर्यच्छौनकायामलं
माण्डव्याय वशिष्ठसंज्ञकमुनिः सूर्यो मयायाह यत्।

अर्थात् सर्वप्रथम ब्रह्मा ही ज्योतिष शास्त्र के ज्ञान से परिपूर्ण हैं। उन्होंने ही नारद को ज्योतिष का ज्ञान प्रदान किया गया। इसी प्रकार क्रमशः चन्द्रमा ने शौनकादि ऋषियों को, नारायण ने वशिष्ठ एवं रोमक को, वशिष्ठ ने माण्डव्य को तथा सूर्य ने मय को ज्योतिष शास्त्र का ज्ञानोपदेश किया।

ज्योतिष शास्त्र के विकास की एक दीर्घ परम्परा रही है, जिसमें अनेक आचार्यों का योगदान रहा है। आचार्य कश्यप के अनुसार ज्योतिष शास्त्र के अष्टादश प्रवर्तकों का उल्लेख इस प्रकार है –

सूर्यः पितामहो व्यासो वशिष्ठोऽत्रि पराशरः।
कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मुनिरंगिराः॥
लोमशः पौलिशश्चैव च्यवनो यवनो भृगुः।
शौनकोष्टादशश्चैते ज्योतिः शास्त्रप्रवर्तकाः।।

अर्थात् सूर्य, पितामह, व्यास, वशिष्ठ, अत्रि, पराशर, कश्यप, नारद, गर्ग, मरीचि, मनु, अंगिरा, लोमश, पौलिश, च्यवन, यवन, भृगु तथा शौनक ये अष्टादश आचार्य ज्योतिष शास्त्र के प्रवर्तक हैं।

वैसे ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के साथ ही ज्योतिष शास्त्र का इतिहास प्रारम्भ होता है। अनन्त आकाश में विद्यमान अनन्त ज्योतिष पिण्डों का ज्ञान करना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव प्रतीत होता है। तथापि मानव ने प्रयास निरन्तर जारी रखा है, जिसके कारण मनुष्य ने अन्तरिक्ष के अनेक रहस्यों को सुलझाने में सफलता प्राप्त की है तथा आगे भी वह सतत् प्रयत्नशील है। ब्रह्माण्ड अथवा अन्तरिक्ष से जुड़े हुये अनेक ऐसे प्रश्न है जो निश्चयात्मक रूप से आज तक नहीं सुलझ सके हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से समस्त ज्ञान परम्परा का मूलाधार वेद है। समस्त विद्याओं का आविर्भाव वेदों से ही माना जाता है। वेदों में भी ऋग्वेद को सबसे प्राचीन माना गया है।यद्यपि इस वैदिक कालखण्ड में ज्योतिष शास्त्र का कोई भी स्वतन्त्रग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता हैं, परन्तु ज्योतिष शास्त्र के अनेक मूलभूत विषय वेदों के मन्त्र भाग एवं संहिता भाग में प्राप्त होते हैं।

'ओरायन' नामकग्रन्थ में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक महोदय ने ऋग्वेद का काल ई. पू. 4500 माना है, जबकि वैदिक सम्पत्ति नामक ग्रन्थ में पं. रघुनन्दनशर्मा ने ऋग्वेद का रचना काल 22,000 ई.पू. माना है। इसी प्रकार ज्योतिष शास्त्र का कालखण्ड भी इसी के समान माना जा सकता है। विभिन्न इतिहासकार एवं प्राचीन साहित्य के रचयिता भी यह कहते हैं कि ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति सृष्टि के आरम्भ काल से ही हुई है। उस काल में मानव वन के जीव–जन्तुओं के साथ ही वन में रहते थे। मानव जीव– जन्तुओं के साथ सूर्योदय एवं सूर्यास्त की स्थिति को देखकर उसे समझने का प्रयास करता रहा होगा। और वहीं से काल गणना का आरम्भ हुआ। कालान्तर में शनैः शनैः ज्योतिष शास्त्र का व्यवहार दैनिक जीवन में भी अपरिहार्य रूप से हुआ होगा।

2.3 ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख स्कन्ध

ज्ञान विज्ञान के अनेक विषयों का ज्योतिष शास्त्र में समाहार है, और वैदिक काल तक इस शास्त्र के कोई भेद नहीं किये गये थे परन्तु कालान्तर में मुख्य रूप से इसके तीन स्कन्ध प्रतिपादित किये गये – सिद्धान्त, संहिता एवं होरा। देवर्षि नारद ने भी कहा है कि–

सिद्धान्तसंहिताहोरारूपं स्कन्धत्रयात्मकम् ।
वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिः शास्त्रमनुत्तमम्॥

आचार्य वराहमिहिर ने भी ज्योतिषशास्त्र के तीन स्कन्धों का वर्णन वृहत्संहिता में दिया है –**"ज्योतिष्शास्त्रमनेकभेदविषयं स्कन्ध त्रयाधिष्ठितम्"।** आचार्य वराहमिहिर ने ही वस्तुतः तीनों ही स्कन्धों में पृथक् रूप से ग्रन्थों की रचना की है। इन तीनों स्कन्धों को ही त्रिस्कन्ध ज्योतिष के नाम से जाना जाता है । कुछ अन्य आचार्यों के मत में केरलि एवं शकुन को भी ज्योतिष के स्कन्धों में स्थान दिया गया है।यथा –

पंचस्कन्धमिदं शास्त्रं होरागणितसंहिता।
केरलिः शकुनञ्चेति ज्योतिष्शास्त्रमुदीरितम् ॥

वस्तुतः शकुन, केरलीय, प्रश्न, मुहूर्त, अंगविद्या, स्वर, वास्तु, ताजिक, रमल आदि को स्कन्ध संज्ञा दी जाय तो ज्योतिष के अनेक स्कन्ध होगें अतः विचारोपरान्त आचार्यों ने ज्योतिष शास्त्र के मुख्यतः तीन ही स्कन्ध स्वीकृत किये।

1. **सिद्धान्त** – जिस स्कन्ध में सभी प्रकार की गणितीय प्रक्रिया से साथ उपपत्तियों का समावेश है, वह सिद्धान्त ज्योतिष है। ग्रह, नाक्षत्र एवं तारों की स्थिति आदि निरूपण में गणितशास्त्र के मूल सिद्धान्तों का उद्भव एवं विकास हुआ। गणितीय सिद्धांतों में शून्य का प्रयोग, दशमलव पद्धति का विकास, बीजगणित, रेखागणित, त्रिकोणमिति आदि का उद्भव सिद्धान्त स्कन्ध में ही वर्णित एवं विकसित हुए। इसे भास्कराचार्य जी ने सिद्धान्तशिरोमणि में इस प्रकार प्रतिपादित किया है अर्थात् –

   त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलना मानप्रभेद क्रमा
   च्चारश्च धुसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथासोत्तराः।
   भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितेश्च कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते
   सिद्धान्तः स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधैः।।

   त्रुटि से लेकर प्रलय काल पर्यन्त की गई काल गणना, मानव – दैव – जैव – पैत्र – नाक्षत्र – सौर – सावन – चान्द्र तथा ब्राह्मादि नवविध काल मानों का सांगोपांग कथन, ग्रहों के मध्य– मन्दस्फुटगति – स्थित्यादि का निरूपण, व्यक्त और अव्यक्त गणित, त्रिकोणमितीय गणितोपपादन, तत्सम्बन्धी प्रश्नों का सोत्तर संकलन, वेधोपयुक्त यन्त्रादि विषयों का निरूपण हो उसे श्सिद्धान्तश कहते है।

2. **संहिता – 'सम्यक् हितं प्रतिपाद्यं यस्याः सा संहिता'** ज्योतिषशास्त्र के जिस स्कन्ध में सभी का सम्यक् प्रकार से हित प्रतिपादित किया गया हो वह संहिता है। सभी में केवल मनुष्यों का समावेश नहीं है अपितु क्षेत्र, प्रदेश, राष्ट्र, पशु पक्षी प्राणिमात्र सहित सम्पूर्ण विश्व से संबधित विषयों का समावेश है। जैसे – पर्यावरण विज्ञान, रसायन विज्ञान, मौसम विज्ञान, भूगर्भविज्ञान, वृष्टि विज्ञान, दकार्गल, प्राकृतिक आपदा, वनस्पति विज्ञान, ग्रहचार, ग्रह– नक्षत्रादि बिम्बों के शुभाशुभ लक्षण, पशु – पक्षी– कीटादियों से संबंधित विषय, वास्तुशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, विचित्र आकाशीय व भौमिक घटनाओं का ज्ञान व उनके प्रभाव का अध्ययन इत्यादि अनेकानेक विषयों का अध्ययन जिसमें किया जाता हो, उसे 'संहिता' कहते हैं। वृहत्संहिता में वराहमिहिर का कथन है –**"तत्कात्स्न्योपनयस्य नाममुनिभिः संकीर्त्यते संहिता''।**

3. **होरा** –एक अहोरात्र के मध्य में घटित होने वाली घटनाओं के विवरण के व्यक्तिगत विवेचन का नाम हो रहा है। आचार्यों ने इसे ऐसा भी कहा है यथा–अहोरात्र शब्द के प्रथम अक्षर 'अ' और अन्तिम अक्षर 'त्र' के लोप से होरा शब्द बना है। काल की दृष्टि से एक राशि के अर्धभाग को होरा कहा गया है। यथा– राश्याधर्म होरा। यह एक अहोरात्र (दिन–रात) का २४वाँ भाग होता है, इसी से आधुनिक Hour शब्द भी बना है। इसी होरा के आधार पर जातक के जन्म के शुभ–अशुभ का निर्धारण किया जाता है। जन्म कालीन ग्रहों एवं नक्षत्रों की स्थिति वशात् जातक के जीवन सम्बन्धित शुभाशुभ फलों का विवेचन किया जाता है। इस विधि से किसी भी व्यक्ति के सम्बन्धित शुभाशुभों की विवेचना की जा सकती है।

त्रिस्कन्ध ज्योतिष में 'प्रश्न और शकुन' को मिलाकर कुल पांच स्कन्ध भी कुछ आचार्यों ने कहे हैं। इस कारण से ज्योतिष को पञ्च स्कन्धात्मक ज्योतिष भी कहा गया।

प्रश्न शास्त्र – जब किसी की जन्म पत्रिका नहीं होती तो उसके प्रश्नों का उत्तर किस प्रकार दिया जाय? अथवा तुरन्त घटी किसी घटना के सन्दर्भ में ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय? इस हेतु तत्काल ग्रहों की स्थिति को देखकर फल कथन किया जाता है। इसमें व्यक्ति का फल कथन भी किया जा सकता था तथा तत्काल में घटी किसी घटना से संबंधित प्रश्न का तुरन्त समाधान कर दिया जाता था। यह तत्काल फल बतलाने वाला शास्त्र है। यदि प्रश्न के समय तत्काल कुण्डली बनाना सम्भव न हो तो इसमें प्रश्नकर्ता के उच्चारित अक्षरों पर से भी फल का प्रतिपादन किया जाता है। इस शास्त्र में तीन सिद्धान्त प्रचलित है। यथा– 1. प्रश्नाक्षर सिद्धान्त 2. प्रश्न लग्न सिद्धान्त और 3. स्वर विज्ञान सिद्धान्त।

अधिकतर जैन प्रश्न ग्रन्थ प्रश्नाक्षर सिद्धान्त को लेकर निर्मित हुए हैं। अन्वेषण करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि, चन्द्रोन्मीलन प्रश्न, आयज्ञानतिलक, अर्हच्चूडामणि आदि ग्रन्थों के आधार पर ही आधुनिक काल में केरल प्रश्नशास्त्र की रचना हुई है। आज भी दक्षिण भारत के अधिकांश क्षेत्रों में प्रश्न के आधार पर ही फलादेश किया जाता है, जिनमें अष्टमंगल पद्धति सर्वप्रमुख है।

वराहमिहिर के पुत्र पृथुयश के समय से प्रश्नलग्न वाले सिद्धान्तों का प्रचार भारत में तीव्र गति से से हुआ है। पृथुयश ने संक्षेप में सार स्वरूप 56 श्लोकों वाले ग्रन्थ षट्पञ्चाशिका की रचना की। जिससे अनेक स्वतन्त्र रचनाएँ भी इस विषय पर लिखी गयी हैं। चर्या, चेष्टा, हाव–भाव आदि के द्वारा मनोगत भावों का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करना भी इस शास्त्र के अन्तर्गत समाहित किया गया।

शकुन – जब कोई व्यक्ति किसी भी प्रकार का प्रश्न करता है तो उसी क्षण प्रकृति में कुछ निमित्त प्रकट होते हैं। जैसे – पशु पक्षियों की आवाज, किसी मनुष्य का आगमन, किसी वाद्य यन्त्र की आवाज आदि। उन निमित्तों को देखकर व्यक्ति के प्रश्न का उत्तर दिया जाता था, इस कारण इसका अन्य नाम निमित्त शास्त्र भी प्राप्त होता है। पूर्वमध्यकाल तक इसने पृथक् स्थान प्राप्त नहीं किया था, किन्तु संहिता के अन्तर्गत ही इसका विषय आता था। कालान्तर में इस शास्त्र की परिभाषा और भी अधिक विकसित हुई और इसकी विषय सीमा में प्रत्येक कार्य के पूर्व में होने वाले शुभाशुभों का ज्ञान प्राप्त करना भी आ गया। मिथिला के महाराज लक्ष्मणसेन के पुत्र बल्लालसेन ने शक संवत् 1092 में अद्भुतसागर ग्रन्थ की रचना की जिसमें उन्होने अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों के कथनों का संकलन किया। वसन्तराज नामक कवि ने वसन्तराज शकुन संज्ञक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। वि.सं. 1232 में अहिपट्टण के नरपति कवि ने नरपतिजयचर्या नामक एक उत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना की।

2.3.1 ज्योतिष की उपयोगिता

जन्म से मृत्यु पर्यन्त ज्योतिष शास्त्र मानव जीवन के लिए प्रत्येक क्षेत्र में सहयोगी एवं कल्याणकारी है। उत्तम संतान प्राप्ति के लिये गर्भाधान काल का ज्ञान ज्योतिष द्वारा किया जाता है, जो कि षोडश संस्कारों में प्रथम संस्कार है। उसके उपरान्त बालक के नाम का निर्धारण, अन्न प्राशन, विद्यारम्भ आदि मुहूर्त्तों का ज्ञान ज्योतिष शास्त्र के द्वारा ही होता है। इसी प्रकार के समस्त कार्य कालाधीन है। ज्योतिष शास्त्र कालनियामक होने के कारण सर्वप्रथम काल निर्धारण में मानव मात्र के लिये सहायक व उपयोगी है। मानव जीवन में कर्म सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पूर्वजन्मार्जित कर्म का फल ही इस

जन्म में भोगना होता है, और उसी के अनुरूप व्यक्ति का जन्म होता है। इसका विवेचन करते हुए कर्मविपाकसंहिता में वर्णन किया गया –

कर्मणा नरकं सूत स्वर्गं याति च कर्मणा।
देवत्वं प्राप्नुयाज् जीवो राक्षसत्वं च कर्मणा।।
कर्मणा बन्धमायाति मोक्षमायाति कर्मणा।
कर्मणा पतनोच्छ्रायौ नृणां जन्मनि जन्मनि॥

पूर्व जन्म जन्मान्तरों में अर्जित कर्मों के फलस्वरूप व्यक्ति को स्वर्ग तुल्य सुखों की प्राप्ति अथवा नरक तुल्य कष्टों की प्राप्ति होती है। कर्म फल के आधार पर ही व्यक्ति देवत्व अथवा राक्षसत्व को प्राप्त करता है। कर्म फल के कारण ही व्यक्ति बन्धन और अथवा मोक्ष प्राप्त करता है। कर्म फल के कारण ही मनुष्य पतन या उन्नति को प्राप्त करता है। इन सिद्धान्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य अपने कर्मों के अधीन अपने भविष्य का निर्माण करता है।

वैसे ज्योतिष शास्त्र व्यक्ति के जन्म से मृत्यु पर्यन्त सभी विषयों से व प्रत्येक क्षेत्र से जुडा हुआ है, किन्तु मुख्य रूप से मानव जीवन में निम्नलिखित विषयों में ज्योतिष शास्त्र की उपयोगिता परिलक्षित होती है।जैसे– 1. गर्भाधान काल के निर्धारण में 2. उत्तम संतति की प्राप्ति में 3. नामकरण, विद्यारम्भ, व्रतबन्ध, चूडाकर्म, विवाह आदि अनेक प्रमुख संस्कारों के मुहूर्त निर्धारण में 4. आयुष्य ज्ञान में 5. आजीविका निर्धारण में 6. रोग, दुर्घटना के ज्ञान में चिकित्सा में 7. यात्रा में 8. गृहनिर्माण, गृहप्रवेश आदि वास्तु सम्बन्धी मुहूर्त विचारों में 9. पारिवारिक संबंधों के विचार में 10. मौसम, पर्यावरण, कृषि, प्राकृतिक आपदा, किसी राष्ट्र या प्रदेश की राजनैतिक, आर्थिक, सामरिक स्थिति के ज्ञान, समर्घ – महर्घ, वृष्टि, शकुन आदि विचारों में 11. काल गणना व पञ्चाङ्ग निर्माण में। इनके अतिरिक्त ज्योतिष एक सार्वभौमिक विज्ञान है, जो मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से प्रत्यक्षतया जुड़ा हुआ है।

2.4 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आपने ज्योतिष शास्त्र का संक्षिप्त परिचय प्राप्त किया। जन्म जन्मान्तरों में अर्जित कर्म के फल का निदर्शन ब्रह्माण्ड की स्थितियों के द्वारा ज्योतिष शास्त्र करता है। ज्ञात–अज्ञात अवस्था में भी ब्रह्माण्ड निरन्तर हमें किसी न किसी रूप में प्रभावित करता रहता है। सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य ने आकाशीय स्थिति को देखकर ही काल की गणना का आरम्भ किया इसी कारण ज्योतिष शास्त्र का दूसरा नाम कालविधान शास्त्र भी है। काल का निरूपण आकाशीय ग्रह स्थितियों के द्वारा ही होता है, और उनमें भी सूर्य और चन्द्रमा सर्वप्रधान है। सामान्यतया आकाश में स्थित ग्रह, नक्षत्रादि पिण्डों की गति, स्थिति एवं उसके प्रभावादि निरूपण का अध्ययन हम जिस शास्त्र के अन्तर्गत करते हैं, उसे ज्योतिष शास्त्र कहा जाता है। भारतीय वैदिक सनातन परम्परा में ज्योतिष शास्त्र को सर्वविद्यामूलक 'वेद' का अंग होने के कारण 'वेदांग' कहा गया है। वेद के छः अंग हैं – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द एवं ज्योतिष। इन्हीं वेदांगों को 'शास्त्र' भी कहा जाता है। यह शास्त्र हमारे प्राचीन ऋषियों की देन है। इसके मुख्यतः तीन स्कन्ध है – सिद्धान्त, संहिता एवं होरा। इस शास्त्र का प्रथम उपदेश ब्रह्मा जी ने नारद को दिया था। कश्यप संहिता के अनुसार इसके सूर्य से लेकर शौनकादि पर्यन्त अष्टादश प्रवर्तक हुये हैं। इसका इतिहास ब्रह्माण्डोत्पत्ति के साथ आरम्भ होकर उसके अवसान पर्यन्त अविच्छिन्न रूप से गतिमान हैं। मानव के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त यह शास्त्र उससे प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष

रूप से जुड़ा हुआ है। मानव के व्यावहारिक जीवन में उसके प्रत्येक काय में ज्योतिष शास्त्र का योगदान स्पष्ट रूप से परिलक्षित है।

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

ज्योतिष – वेद के चक्षरूपी अंग को ऋषियों के द्वारा 'ज्योतिष शास्त्र' की संज्ञा प्रदान की गयी। सामान्यतया आकाश में स्थित ग्रह, नक्षत्रादि पिण्डों की गति, स्थिति एवं उसके प्रभावादि निरूपण का अध्ययन हम जिस शास्त्र के अन्तर्गत करते हैं, उसे ज्योतिष शास्त्र कहा जाता है।

ग्रह– गच्छतीति ग्रहः। आकाशस्थ राशि मण्डल में वह पिण्ड जिसमें गति हो और जो नक्षत्रों के सापेक्ष चलायमान हो उसे ग्रह कहते

नक्षत्र – न क्षरतिति नक्षत्रम्। आकाशस्थ राशिमण्डलस्थ वह पिण्ड जो चलता नहीं नक्षत्र कहलाता है। दूसरे शब्दों में तारों के समूह की भी नक्षत्र संज्ञा है।

वेदांग– वेद के अंग को वेदांग कहा जाता है। भारतीय ज्ञान–विज्ञान की परम्परा में षड् वेदांग कहे गये है।

सिद्धान्त– त्रुट्यादि से प्रलयकाल पर्यन्त की गई काल गणना जिस स्कन्ध में हो, उसे सिद्धान्त कहते

संहिता – ज्योतिष शास्त्र के जिस स्कन्ध में ग्रहचारवश ग्रह– नक्षत्रादि बिम्बों के शुभाशुभ लक्षण से पशु–पक्षी– कीटादियों का भूसापेक्ष सामूहिक विवेचन, आकाशीय घटनाओं का ज्ञान किया जाता हो, उसे 'संहिता शास्त्र कहते हैं।

होरा– जिस स्कन्ध में मानव मात्र का उसके जन्म सम्बन्धित काल के आधार पर ग्रहों एवं नक्षत्रों की स्थिति वशात् उसके जीवन सम्बन्धित शुभाशुभ फलों का विवेचन किया जाता है, उसे होरा कहते हैं।

2.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क) लघुजातक मूललेखक – वराहमिहिर, टीकाकार – डॉ0 कमलाकान्त पाण्डेय, संस्करण 2005, प्रथम अध्याय –प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी।

ख) सिद्धान्तशिरोमणि मूललेखक – आचार्य भास्कराचार्य, टीकाकार – पं0 सत्यदेव शर्मा, संस्करण 2011 प्रथम अध्याय प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत भवन / चौखम्भा साहित्य सीरिज, वाराणसी।

ग) सिद्धान्ततत्वविवेक मूललेखक – कमलाकर भट्ट , टीकाकार – कृष्णचन्द्र द्विवेदी, संस्करण 1996, प्रकाशक, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत भवन चौखम्भा साहित्य सीरिज, वाराणसी।

घ) सूर्यसिद्धान्त मध्यमाधिकारः,लेखक – प्रोफे. रामचन्द्र पाण्डेय, 2002 चौखम्भा संस्कृत भवन/चौखम्भा साहित्य सीरिज, वाराणसी।

2.7 सहायक पाठ्यसामग्री

ज्योतिष शास्त्र का इतिहास – लोकमणि दहाल

भारतीय ज्योतिष – शंकरबालकृष्णदीक्षित / नेमिचन्द शास्त्री

लघुजातक – डॉ. कमलाकान्त पाण्डेय

वृहज्जातकम् – डॉ. सत्येन्द्र मिश्र

सुलभ ज्योतिष ज्ञान – पं. वासुदेव सदाशिव खानखोजे

2.8 बोध प्रश्न

1. ज्योतिष की परिभाषा लिखते हुये ज्योतिष शास्त्र के प्रवर्तकों का वर्णन कीजिये।
2. ज्योतिष के स्कन्धों का संक्षिप्त परिचय प्रदान कीजिये।
3. ज्योतिष के इतिहास का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।
4. ज्योतिष की वर्तमान समय में उपयोगिता पर प्रकाश डालिये।



इकाई 3 ज्योतिष शास्त्र का उद्भव एवं विकास

इकाई की संरचना

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति के सन्दर्भ में प्रतिपादन कर सकेंगे।
- काल क्रम के आधार पर ज्योतिष शास्त्र के विकास क्रम का परिचय प्रदान कर सकेंगे।
- वैदिक काल से लेकर अर्वाचीन काल तक ज्योतिष की स्थिति का प्रतिपादन कर सकेंगे।
- ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति और विकास को बता सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

इस इकाई का शीर्षक है – ज्योतिष शास्त्र का उद्भव एवं विकास

इससे पूर्व की इकाई में आप ज्योतिष शास्त्र का सामान्य परिचय प्राप्त कर चुके हैं। इस इकाई में आप ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास के सन्दर्भ में अध्ययन करेंगे।

इस ब्रह्माण्ड में जो भी प्रकाशमान पिण्ड हैं उन्हे ज्योतिः पिण्ड या पुंज कहा है और उनसे संबंधित शास्त्र ज्योतिष शास्त्र है। अतः ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति ब्रह्माण्डोत्पत्ति के साथ ही हुई है, ऐसा कहा जा सकता है। ये ज्योतिष्पिण्ड ही कालगणना के मुख्य आधार हैं, अतः काल विधायक शास्त्र ही ज्योतिष शास्त्र है, और जब से काल की उत्पति हुई है तब से ज्योतिष का भी आविर्भाव माना जा सकता है। कालखण्ड के आधार पर इसके रूप में परिवर्तन परिलक्षित होता रहा है।

आइए इस इकाई में ज्योतिष के मूलोत्पत्ति के साथ उसके कालक्रम के आधार पर उसके विकास का अध्ययन करते है।

3.2 ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति

भारतीय परम्परा के अनुसार समस्त ज्ञान विज्ञान की उत्पत्ति का मूल 'वेद' है। अतः ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति का मूल भी 'वेद' ही है। ज्योतिष शास्त्र वैदिककालीन ऋषि–महर्षियों की सहस्रों वर्षों तक की गई तपस्या, अन्तर्दृष्टि व गहन शोध का परिणाम है। भारतीय विद्याओं में इसका अद्वितीय स्थान है। इसके अन्तर्गत पिण्ड और ब्रह्माण्ड के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। ब्रह्माण्ड के सभी घटक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं। इन ग्रह–नक्षत्रों का मानव–जीवन पर प्रभाव पड़ता है। अपने पूर्वजन्मार्जित कर्मों को भोगने के लिये जन्म के समय आत्मा उसी प्रकार की ब्रह्माण्डीय स्थिति का चयन करती है। और आगे जीवन में विभिन्न काल में उसी प्रकार की ग्रहों की दशा अन्तर्दशा मनुष्य के जीवन में आती है जिससे कि वह अपने कर्मों का शुभाशुभ फल भोग सके। ज्योतिष शास्त्र के अध्ययन और उपयोग से मनुष्य को जीवन के सभी क्षेत्रों में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है।

विश्व के विभिन्न भागों में विभिन्न सभ्यताओं की ब्रह्माण्ड के प्रति रुचि हुई और उसके रहस्यों को जानने के लिये प्रयास किये गये, काल गणना के लिये भी मिस्र, मेसोपोटामिया, माया आदि विश्व की समस्त सभ्यताओं ने आकाशीय स्थिति और उसमें भी विशेष रूप से सूर्य व चन्द्रमा की गति स्थिति का प्रयोग किया गया। परन्तु जिस प्रकार का सटीक व वैज्ञानिक विवेचन प्राचीन भारतीय महर्षियों द्वारा किया, वैसा विश्व की किसी भी सभ्यता के द्वारा नहीं किया गया और इसी कारण से कालान्तर में भारतीय ज्योतिष में वर्णित काल गणना व गणितशास्त्र के सिद्धान्त सम्पूर्ण विश्व में स्वीकार किये गये। जैसे वर्ष में सटीक दिनों की संख्या, एक वर्ष में द्वादश मास का होना, सप्ताह में सात दिन होना, सप्ताह के दिनों का क्रम रवि, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि होरा, एक दिन रात में चौबीस होरा का होना, वृत्त में 360 अंश होना, शून्य का गणना में प्रयोग, दशमलव पद्धति इत्यादि भारतीय ज्योतिष शास्त्र की ही विश्व को देन है। मध्यकालीन भारतीय संस्कृति नामक पुस्तक में श्री ओझा ने लिखा है, "भारत ने अन्य देशवासियों को जो अनेक बातें सीखायीं, उनमें सबसे अधिक महत्व अंकविद्या का है। संसार भर में गणित, ज्योतिष, विज्ञान आदि की आज जो उन्नति पायी जाती है, उसका मूल कारण वर्तमान अंक क्रम है। जिसमें १ से ९ तक के अंक और शून्य इन १० चिह्नों से अंक–विद्या का सारा काम चल रहा है। यह क्रम भारतवासियों ने ही निकाला और इसे सारे संसार ने अपनाया।'' ज्योतिष की मूलभूत तत्वमीमांसा एवं उसके आध्यात्मिक तत्वदर्शन से उस समय की सभ्यताऐं अनभिज्ञ थीं। वे केवल ब्रह्माण्ड के भौतिक स्वरूप को ही देख पाये।

वास्तव में ज्योतिष के सिद्धान्तों का सुदृढ़ आधार अभौतिक एवं आध्यात्मिक है। इसे केवल भौतिक वाले खगोलीय विज्ञान के आधार पर नहीं समझा जा सकता। इस शास्त्र के आविष्कर्ता भारतीय महर्षि अलौकिक आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पन्न थे। वे अपने तपोबल के आधार पर आत्मा का स्वरूप, जन्म जन्मान्तर की व्यवस्था व कर्म के फलभोग के स्वरूप को भली–भाँति समझ पाये और इस अनन्त ब्रह्माण्ड के साथ मनुष्य के संबन्ध को देख पाये। उस अलौकिक विज्ञान का प्रतिपादन भी कर पाये, जो वैज्ञानिकों के लिये आज तक करना सम्भव नहीं हो पाया है।

योग–विज्ञान के द्वारा ऋषियों ने अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा से ब्रह्माण्ड के दर्शन किए और उसके समस्त रहस्यों को जाना। और उसी योग बल व तपस्या के द्वारा अंकविद्या का भी निर्वचन किया। कुछ पाश्चात्य विद्वान भारतीय ज्योतिष में ग्रीक व यवनों का प्रभाव मानते हैं, परन्तु विचार करने पर वास्तविकता कुछ भिन्न नजर आती है। प्राचीन भारत

में सम्पूर्ण विश्व से अनेक विद्यार्थी विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए आते थे और वर्षों तक भारत में रहकर भारतीय आचार्यों से भिन्न–भिन्न शास्त्रों का अध्ययन करते थे। विश्व के सबसे बडे ज्ञान के केन्द्र भारत में हुआ करते थें, जिनमें नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमशिला, वलभी इत्यादि नगर प्रमुख थे। अनेक प्राचीन यात्रियों ने इसका उल्लेख भी किया है, जैसे – ह्वेनसांग, फाह्यान, अल बरूनी, इब्नेबतूता आदि। विदेशी सम्पर्क के कारण कुछ विदेशी शब्द भी ईपूर्व तीसरी शती में, कुछ छठी शती में, कुछ १५–१६ वीं शती में ज्योतिष में मिल गए। भारत के अनेक आचार्यगण ईसवी सन की चौथी और ५वीं शती में ग्रीस गए। इससे भी ५वी और छठी शती के प्रारम्भ में अनेक ग्रीक शब्द भारतीय ज्योतिष में आ गए। समस्त विश्व ने भारत से जो अनगिनत अजस्र अनुदान प्राप्त किये, उसमें ज्योतिष का स्थान अद्वितीय है। डब्ल्यू डब्ल्यू हण्टर ने इण्डियन गजेटियर में स्पष्ट रूप से लिखा है कि – 8वीं शती में अरबी विद्वानों ने भारत से ज्योतिष विद्या सीखी और भारतीय ज्योतिष 'सिद्धान्तों' का सिन्दहिन्द नाम से अरबी में अनुवाद किया। अरबी भाषा में लिखी गयी 'आदन उल अम्बाफितल कालूली अतिब्बा' नामक पुस्तक में लिखा है कि 'भारतीय विद्वानों ने अरबी के अंतर्गत बगदाद की राजसभा में जाकर ज्योतिष, चिकित्सा आदि शास्त्रों की शिक्षा दी थी।' कर्क नामक एक विद्वान शक संवत् ६६४ में बादशाह अलमसूर के दरबार में ज्योतिष और चिकित्सा के ज्ञानदान के निमित्त गए थे।

भारतीय वांग्मय के प्राचीनतम ग्रन्थों में आयी ज्योतिर्विज्ञान की शब्दावली भी यही प्रमाणित करती है कि इसकी जन्मस्थली भारत ही है। ऋग्वेद संहिता में चक्र शब्द आया है, जो राशिचक्र का द्योतक है। "**द्वादशारं नहि तज्जराय** (ऋक् १–१६४–११)" मंत्र में द्वादशारं शब्द १२ राशियों का बोधक है। प्रकरणगत विशेषताओं के ऊपर ध्यान देने से इस मंत्र में स्पष्टतया द्वादश राशियों का निरूपण देखा जा सकता है। इसके अलावा ऋग्वेद के अन्य स्थलों एवं शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि लगभग 28000 वर्ष पहले भारतीयों ने खगोल और ज्योतिषशास्त्र का मन्थन किया था। वे आकाश में चमकते हुए नक्षत्र पुँज, आकाश–गंगा निहारिका आदि के नाम–रूप–रंग–आकृति आदि से पूर्णतया परिचित थे।

'अलबरुनीज इण्डिया' के पृष्ठों में अलबरुनी की स्पष्टोक्ति है कि ज्योतिष शास्त्र में हिन्दू लोग संसार की सभी जातियों से बढ़कर है। मैंने अनेक भाषाओं के अंकों के नाम सीखे हैं, पर किसी जाति में हजार के आगे की संख्या के लिए मुझे कोई नाम नहीं मिला। हिन्दुओं में अठारह अंकों तक की संख्या के लिए नाम है, जिनमें अन्तिम संख्या का नाम परार्द्ध बताया गया है। भारतीय ज्योतिष की प्राचीनता पर **इण्डिया–ह्वाट इट केन टीच अस'** में प्रो मैक्समूलर ने लिखा है, भारतवासी आकाशमण्डल और नक्षत्र मण्डल आदि के बारे में अन्य देशों के ऋणी नहीं हैं अपितु वे ही इनके मूल आविष्कर्ता हैं।

फ्रांसीसी पर्यटक फ्राक्वीस वर्नियर ने भी भारतीय ज्योतिष ज्ञान की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि ''भारतीय अपनी गणना द्वारा चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण की बिलकुल ठीक भविष्यवाणी करते हैं इनका ज्योतिष ज्ञान प्राचीन और मौलिक है।''

काण्ट आर्मस्टर्जन ने लिखा है कि ''वेली द्वारा किये गये गणित से यह प्रतीत होता है कि ईसवी सन् से तीन हजार वर्ष पूर्व में ही भारतीयों ने ज्योतिषशास्त्र और भूमितिशास्त्र में अच्छी पारदर्शिता प्राप्त कर ली थी।''

डॉ राबर्टसन का कथन है कि ''बारह राशियों का ज्ञान सबसे पहले भारतवासियों को ही हुआ था । भारतीयों ने प्राचीनकाल में ज्योतिर्विद्या में अच्छी उन्नति की थी।''

'टरवीनियरस ट्रेविल इन इण्डिया' में फ्रांसीसी यात्री टरवीनियर ने भी भारतीय ज्योतिष की प्राचीनता और विशालता से प्रभावित होकर कहा है कि "भारतीय, ज्योतिष ज्ञान में प्राचीनकाल से ही निपुण हैं। वे व्यक्तिगत, राष्ट्रीय एवं वैश्विक जीवन के प्रत्येक पक्ष के संबन्ध में सटीक भविष्यवाणी करने की अद्भुत क्षमता रखते हैं।''

एनसाइक्लोपीडिया ऑफ बिट्रैनिका में लिखा है कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे वर्तमान अंक क्रम की उत्पत्ति भारत से है। सम्भवतः ज्योतिष सम्बन्धी उन सारणियों के साथ, जिनको एक भारतीय राजदूत ने सन् ७७३ ईसवी में बगदाद में लायाइन अंकों का प्रवेश भारत से हुआ। फिर ईसवी सन की ६वीं शती के प्रारम्भिक काल में प्रसिद्ध अबूजफर मोहम्मद अल खारिज्मी ने अरबी में उक्त क्रम का विवेचन किया और उसी समय से अरबों में उसका प्रचार बढ़ने लगा। यूरोप में शून्य सहित यह सम्पूर्ण अंक क्रम ईसवी सन् की १२वीं शती में अरबी से लिया गया है इस क्रम से बना हुआ अंकगणित 'अल गोरिट्मस' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

प्रो वेल्स महोदय ने प्लेफसर की कुछ पंक्तियाँ मिल्स इण्डिया के खण्ड दो में उद्धत की हैं, जिनका आशय है कि – 'ज्योतिष ज्ञान के बिना बीजगणित की रचना कठिन है।' विलसन कहते है कि भारत ने ज्योतिष और गणित के तत्वों का आविष्कार अति प्राचीनकाल में किया था।

डी मार्गन ने स्वीकार किया है कि भारतीयों का गणित और ज्योतिष यूनान के किसी भी गणित या ज्योतिष के सिद्धान्त की अपेक्षा महान है। इनके तत्व प्राचीन और मौलिक हैं।

थियोगोनी ऑफ द हिन्दूज' में काण्ट आर्मर्स्टजन ने लिखा है कि वेलों द्वारा किए गये गणित से ही प्रतीत होता है कि ईसवी सन् ३००० वर्ष पूर्व ही भारतीयों ने ज्योतिष शास्त्र और भूमिति शास्त्र में अच्छी पारदर्शिता प्राप्त कर ली थी।

कर्नल टाड ने अपने 'राजस्थान' नामक ग्रन्थ में लिखा है हम उन ज्योतिषियों को यहाँ (भारत में) पा सकते हैं, जिनका ग्रह–मण्डल सम्बन्धी ज्ञान अब भी यूरोप में आश्चर्य उत्पन्न कर रहा है। मिस्टर मारिया ग्राहम लेटर्स ऑन इण्डिया में अपना मत व्यक्त करते हुए कहते है कि समस्त मानवीय परिष्कृत विज्ञानों में ज्योतिष मनुष्य ऊँचा उठा देता है। इसके प्रारम्भिक विकास का इतिहास मानवता के उत्थान का इतिहास है। भारत में इसके आदिम अस्तित्व के बहुत से प्रमाण मौजूद है।

मिस्टर सीवी क्लार्क एफजी एफ कहते हैं कि अभी बहुत वर्ष पीछे तक हम सुंदर स्थानों के अक्षांश के विषय में निश्चयात्मक रूप से ज्ञान नहीं रखते थे किन्तु प्राचीन भारतीयों ने ग्रहण ज्ञान के समय से ही इन्हें जान लिया था। इनकी यह अक्षांश–रेखाएँ वाली प्रणाली वैज्ञानिक ही नहीं अचूक है। 'एन्सिएण्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया में प्रो विलसन का मानना है कि भारतीय ज्योतिषियों को प्राचीन खलीफों विशेषकर हारूँ रशीद और अलमायन ने भली भाँति प्रोत्साहित किया। वे बगदाद आमंत्रित किए गए और वहाँ उनके ग्रन्थों का अनुवाद हुआ। डॉक्टर राबर्टसन का कथन है कि 12 राशियों का ज्ञान सबसे पहले भारतवासियों को ही हुआ था। भारत ने प्राचीनकाल में ज्योतिर्विद्या में अच्छी उन्नति की थी।

प्रो कोलबुक और बेबर ने लिखा है कि भारत को ही सबसे प्रथम चन्द्र व नक्षत्रों का ज्ञान था। चीन और अरब के ज्योतिष का विकास भारत से ही हुआ है। उनका क्रान्तिमण्डल हिन्दुओं का ही है। निस्सन्देह उन्हीं से अरब वालों ने इसे लिया है। विख्यात चीनी विद्वान 'लियांग चिचाप' के शब्दों में "वर्तमान सभ्यजातियों ने जब हाथ–पैर हिलाना भी प्रारम्भ नहीं किया था, तभी हम दोनों भाइयों (भारत और चीन) ने

मानव सम्बन्धी समस्याओं को ज्योतिष जैसे विज्ञान द्वारा सुलझाना आरम्भ कर दिया था।''

डॉ थोबो बहुत सोच–विचार और समालोचना के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत ही रेखागणित के मूल सिद्धान्तों का आविष्कर्ता है। इसने नक्षत्र विद्या में भी पुरातनकाल में ही प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। यह रेखागणित के सिद्धान्त का उपयोग इस विद्या को जानने के लिए करता था। बर्जेस महोदय ने सूर्य सिद्धान्त के अंग्रेजी अनुवाद के परिशिष्ट में अपना मत उद्धृत करते हुए बताया है कि भारत का ज्योतिष टालमी के सिद्धान्तों पर आधारित नहीं है, बल्कि इसने ईसवी सन के बहुत पहले ही इस विषय का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

3.3 ज्योतिष का विकास – काल क्रम के आधार पर

यद्यपि भारतीय परम्परा में **''अपौरुषेय वेदाः''** सिद्धान्त प्रचलित है । ऋग्वेद विश्व का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् बेवर सर विलियम जोन्स, व्हिटनी, कालबुक, डेविस, मैक्समूलर, थीबो तथा भारतीय विद्वानों में कृष्ण शास्त्री बालकृष्ण दीक्षित, सुधाकर द्विवेदी, डॉ–आर–श्याम शास्त्री आदि विद्वानों ने ऋग्वेद का काल ईसा पूर्व चार हजार वर्ष स्वीकृत किया है। वेदों में खगोल, भूगोल, कृषिकर्म, राजधर्म आदि विभिन्न विषयों का प्रतिपादन है। आधुनिक घटिका यन्त्र (घड़ी) के निर्माण से पूर्व प्राचीनकाल में ऋषि मुनि आकाशीय ग्रहों, उपग्रहों, नक्षत्रों के आधार पर काल ज्ञान करते थे। ज्योतिष शास्त्र के विकास का काल वर्गीकरण अन्य किसी प्राचीनशास्त्र या किसी ज्योतिष शास्त्रीय ऐतिहासिक ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होता, किन्तु आदिकाल से विद्यमान ज्योतिष के विकास का कालवर्गीकरण नेमिचन्द्र शास्त्री की पुस्तक ''भारतीय ज्योतिष'' में प्राप्त होता है। ज्योतिष शास्त्र के विकास का काल वर्गीकरण इस प्रकार है–

१) अन्धकारकाल ई पूर्व १००००० पूर्व का समय।

२) उदयकाल ई पूर्व १०००१ से ई पूर्व ५०० तक का समय।

३) आदिकाल ई पूर्व ५०१ से ई ५०० तक का समय।

४) पूर्वमध्यकाल ई ५०१ से ई १००० तक का समय।

५) उत्तरमध्यकाल ई १००१ से ई १६०० तक का समय।

६) आधुनिक काल ई १६०१ से ई १६५१ तक का समय।

(अन्धकार काल ई. पूर्व १०००० पूर्व का समय)

यह स्पष्ट है कि मानव सृष्टि के समान ही ज्योतिष भी अनादि है । सृष्टि के आरम्भ में जब मनुष्य के पास अपनी भावनाओं को अभिव्यक्ति देने के लिये कोई लिपि या भाषा नहीं थी, तब वह केवल नाद से ही अपनी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति करता था, लेकिन विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार यह नाद और अभिव्यक्ति के हाव–भाव भाषा में बदलने लगे, लेकिन उस समय तक भी लिपि का आविष्कार नहीं हुआ था । सम्पूर्ण कार्य मौखिक रूप से ही सञ्चालित होते थे। वेद को श्रुत भी इसलिये कहा जाता है कि उस समय के सारे ज्ञान और कार्य का आधार कण्ठस्थीकरण ही था। मनुष्य में प्रकृति प्रदत्त क्यों? और कैसे? ये दो जिज्ञासाएँ ही उसके सम्पूर्ण विकास का आधार हैं। इनके अभाव में ज्ञान की किसी भी शाखा का मनुष्य द्वारा विकास और आत्मसात करना असम्भव है। भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता उसका आध्यात्मिक ज्ञान है। इसका सम्पादन ध्यान और योग क्रिया से होता है। इसी के माध्यम से मनुष्य

ने यह जाना कि 'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' अर्थात् जो कुछ इस शरीर में है वही ब्रह्माण्ड में है। जिन व्यक्तियों ने इस विषय में शोध किया वे ऋषि–मुनि कहलाये। मनुष्य ने जब आकाश को देखा तो उसके रहस्य के जानने का प्रयास भी किया था। अन्धकार काल की ज्योतिष विषयक मान्यताओं का ज्ञान उदय काल और आदि काल के साहित्य से हो जाता है। वैदिक दर्शन में सृष्टि का सृजन और विनाश माना जाता है। इसके अनुसार सृष्टि के निर्माण के साथ ही मनुष्य ग्रह–नक्षत्रों का अध्ययन आरम्भ कर देता है और शनैः शनै विकास के फलस्वरूप इस ज्ञान की अभिव्यक्ति की शक्ति भी आ जाती है। शास्त्रों की स्पष्ट मान्यता है कि एक समय में समस्त सृष्टि अन्धकार से आच्छादित थी। उस समय तर्क और ज्ञान भी प्रगाढ निद्रा से अभिभूत थे। इसके पश्चात् स्वयम्भू अव्यक्त परमात्मा ने सृष्टि की कामना से जल की सृष्टि की और उसमें अपना तेज स्थापित कर स्वर्ण सदृश तेजोमय एक अण्डा निकाला और इस अण्डे को दो भागों में विभाजित किया, जो धुलोक व भूलोक कहे गये। इन्ही दो लोकों के मध्यवर्ती स्थान को आकाश कहते हैं। इसी विश्वस्स्रष्टा भगवान् से सूर्य व चन्द्ररूपी ब्रह्मा उत्पन्न हुए।

इस काल को प्राग्वैदिक काल भी कहा जा सकता है। प्राग्वैदिक काल में भारतीय ऋषियों ने दिव्य ज्ञानशक्ति द्वारा आकाश मण्डल के समस्त तत्वों को ज्ञात कर लिया था और जैसे–जैसे आगे जाकर अभिव्यंजना की प्रणाली विकसित होती गयी, ज्योतिष शास्त्र के विषय भाषा द्वारा प्रकट होने लगे। अतएव उसके उपरान्त वैदिककाल में ज्योतिष के महत्वपूर्ण सिद्धान्त अत्यधिक पुष्पवित और पल्लवित हुए। दैनिक कार्यों के सम्पादनार्थ उपयोगी काल गणना के उपकरण उस समय प्रयोग में लेना प्रारम्भ हो चुके होंगे। उस युग के प्रत्येक व्यक्ति को ग्रह–नक्षत्रों का इतना ज्ञान था, जिससे वह केवल आकाश को देखकर ही समय और दिशा को ज्ञात कर लेता था। उदयकाल में जिन ज्योतिष सिद्धान्तों को साहित्यिक रूप प्रदान किया गया है, वे प्रागवैदिक काल में मौखिक रूप में वर्तमान थे, ऐसा कहा जा सकता है।

(उदयकाल ई. पूर्व १०००१ से ई. पूर्व ५०० तक का समय)

उदयकाल में आर्यों ने वैदिक साहित्य को जन्म दिया। यद्यपि वेद, आरण्यक, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि धार्मिक रचनाएँ मानी जाती हैं, किन्तु इनमें ज्योतिष, आयुर्वेद, शिल्प की चर्चा पर्याप्त रूप से विद्यमान है। इस काल के साहित्य में मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, ग्रहण, ग्रह कक्षा, नक्षत्र, दिन रात का मान और उसकी हानि–वृद्धि आदि विषयों पर ज्योतिषीय दृष्टि से विचार होने लगा था। वेदों की अपेक्षा शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में ज्योतिष की चर्चा विकसित रूप में है। इस काल में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि सात ग्रहों का विवेचन मिलता है । ऋग्वेद में वर्ष के बारह चान्द्र मास और अधिक मास का उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय संहिता में बारह महिनों के नाम मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभस, नभस्य, इष, ऊर्जा, सहस, सहस्य, तपस और तपस्य प्राप्त होते है। अधिमास को संसर्प और क्षय मास को अहस्पति कहा गया तैत्तरीय ब्राह्मण में ऋतुओं का उल्लेख करते हुए बताया है कि –

तस्य ते वसन्तः शिरः । ग्रीष्मोदक्षिणः पक्षः ।
वर्षः पुच्छम् । शरदुत्तरः पक्षः । हेमन्तो मध्यम ।

अर्थात् वर्ष का सिर वसन्त दक्षिण पंख ग्रीष्म वाम पङ्क्ष शरद पूँछ वर्षा और हेमन्त मध्यभाग है। इसी प्रकार प्राचीन वैदिक और ब्राह्मण साहित्य में नक्षत्रों का भी उल्लेख मिलता है ।

(आदिकाल ई. पूर्व ५०१ से ई. ५०० तक का समय)

इस काल में ज्योतिष विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ रचना की जाने लगी थी । इस युग में शिक्षा,कल्प व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द ये छः भेद वेदाङ्ग के प्रकट हो गये थे । आदिकाल में उदयकाल में विशृङ्खलित रूप से प्रचलित ज्योतिष मान्यताओं के सङ्कलन का कार्य वेदाङ्गज्योतिष के रूप में आरम्भ हो गया था । वेदाङ्गज्योतिष के रचनाकाल के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं । प्रो मेक्समूलर ने इसका रचनाकाल ईपू ३००, प्रो बेवर ने ईपू ५००, कोलबुक ने ईपू १४१० और प्रो ह्विटनी ने ईपू १३३८ बताया है। गणित क्रिया करने पर वेदाङ्गज्योतिष में प्रतिपादित अयन ईपू १४०८ में आता है । इस काल में ज्योतिष के प्रवर्तक १८ आचार्य हुए हैं जिन्होंने अपने दिव्य ज्ञान से इस शास्त्र का निर्माण किया ।

सूर्यः पितामहो व्यासो वसिष्ठोऽत्रिः पाराशरः ।
कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मनुरङ्गिराः ।।
लोमशः पौलिशश्चैव च्यवनो यवनो भृगुः ।
शौनकोऽष्टादशाश्चैते ज्योतिःशास्त्र प्रवर्तकाः ।।

अर्थात् सूर्य, पितामह, व्यास, वशिष्ठ, अत्रि, पाराशर, काश्यप, नारद, गर्ग, मरीचि, मनु, अङ्गिरा, लोमश पौलिश च्यवन,यवन और शौनक ये १८ ज्योतिषशास्त्र के प्रवर्तक बताए गए हैं। ज्योतिषकरण्डक, सूर्य प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थ इसी काल के हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति में नौ ग्रहों का स्पष्ट वर्णन है। यथा

सूर्यः सोमो महीपुत्रः सोमपुत्रो बृहस्पतिः ।
शुक्रः शनैश्चरो राहुः केतुश्चेति ग्रहाः स्मृताः ।।

उक्त श्लोक से सात वारों और नौ ग्रहों का अनुमान सहज ही हो जाता है । वशिष्ठ संहिता, रोमक सिद्धान्त, पौलिश सिद्धान्त, बृहत्पाराशरहोराशास्त्र आदि इस काल की रचनाएँ हैं ।

इस काल में महात्मा लगध ने 'वेदांग ज्योतिष' की रचना कर ज्योतिष को स्वतन्त्र रूप से स्थापित किया। वेदांग ज्योतिष में ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद ज्योतिष – ये तीन ग्रन्थ माने जाते हैं। प्रथम ऋग्वेद ज्योतिष में ३६ कारिकाएँ हैं। यजुर्वेद ज्योतिष में ४६ कारिकाएँ हैं, जिनमें ३६ कारिकाएँ तो ऋग्वेद ज्योतिष की हैं और १३ नयी आयी हैं। अथर्व ज्योतिष में १६२ श्लोक हैं। इन तीनों ग्रन्थों में फलित की दृष्टि से अथर्व ज्योतिष महत्वपूर्ण है। लगधप्रोक्त वेदांगज्योतिष ग्रन्थ में पाँच वर्षों का युग, माघशुक्लादि वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, पर्व, विषुवत्तिथि, नक्षत्र, अधिमास ये विषय प्रतिपादित हैं। श्रौतस्मार्तधर्मकृत्यों में इन की ही अपेक्षा होने से इस वेदांग ज्योतिष ग्रन्थ में इन विषयों का मुख्यतया प्रतिपादन किया गया हैं। वैदिक ज्योतिष का जो स्वरूप हमें संहिता ग्रन्थों में उपलब्ध है, उसमें नक्षत्रों, तिथियों, चान्द्रमासों, दोनों विषुवत् और दोनों अयनों का का वर्णन उपलब्ध है और नक्षत्र गणना कृत्तिका नक्षत्र से की गई है जो उस समय वसन्त सम्पात का नक्षत्र था। उपरोक्त विषयों का गणितीय स्वरूप हमें 'वेदांग ज्योतिष' में उपलब्ध होता है जो गणना के द्वारा तिथियों, नक्षत्रों के मान को प्रस्तुत करता है। वेदांग ज्योतिष की गणना के अनुसार ५ वर्षों का एक युग माना गया है जो चान्द्रयुगचक्र कहा जा सकता है।

वेदांग ज्योतिष के समकालीन रचे गए जैन ज्योतिष के ग्रन्थ सूर्य–प्रज्ञप्ति, चन्द्र–प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और ज्योतिषकरण्डक इस विषय के स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं, इसके अतिरिक्त कल्पसूत्र, निरूक्त, व्याकरण, स्मृतियाँ, महाभारत और जीवाभिगम सूत्रादि ईसवी सन से सैकड़ो वर्षों पूर्व रचित ग्रन्थों में फुटकर रूप से ज्योतिष की अनेक चर्चाएँ आयी हैं। इन कृतियों से ज्योतिष शास्त्र को सुदृढ़ आधार प्राप्त हुआ।

आर्यभट्ट द्वारा रचित 'आर्यभट्टीयम्' तथा लल्ल के द्वारा रचित 'शिष्यधीवृद्धि' तन्त्रम् ज्योतिष के सुप्रसिद्ध रचनाओं में से एक है।

वैदिक काल से ही भारतवर्ष में पंचांग निर्माण की परम्परा भी आरम्भ हो गयी थी। उस कालखण्ड में पंचांग का स्वरूप आज के सदृश नहीं था, किन्तु पंचांग की उत्पत्ति हो चुकी थी। तभी तो वेदों में कई स्थलों पर हमें तिथि और नक्षत्रों का उल्लेख मिलता है।

(पूर्वमध्यकाल ई. ५०१ से ई. १००० हजार तक का समय)

इस काल में ज्योतिष के स्कन्धत्रय (सिद्धान्त, संहिता, होरा) प्रस्फुटित हो गये थे। यह काल ज्योतिष का स्वर्णकाल कहा जा सकता है । पूर्वमध्यकाल में ज्योतिष शास्त्र उन्नति की चरम सीमा पर था। आर्यभट्ट, वराहमिहिर जैसे अनेक धुरन्धर ज्योतिर्विद हुए, जिन्होंने इस विज्ञान को क्रमबद्ध किया तथा अपनी अद्वितीय प्रतिभा द्वारा अनेक नवीन विषयों का समावेश किया। इसी युग के प्रारम्भ में आर्यभट ने विद्वानों के भूगति, परिधि व्यास सम्बन्ध एवं ग्रहण जैसे विषयों पर सटीक वैज्ञानिक विवेचन दिया। द्वितीय युग के प्रारम्भिक त्रिकन्ध ज्योतिष के आचार्य वराहमिहिर या वराह हैं, जिन्होंने अपने पूर्वकालीन प्रचलित सिद्धान्तों का पंचसिद्धान्तिका में संग्रह किया तथा संहिता ज्योतिष के सर्वश्रेष्ठ संकलन ग्रन्थ "बृहत्संहिता" की भी रचना की। ग्रहगणित के क्षेत्र में सिद्धान्त, तन्त्र एवं करण इन भेदों का प्रचार भी होने लगा था। इस काल में अनेक प्रकाण्ड विद्वानों ने जन्म लिया जिन्होंने अपने दिव्य ज्ञान से ज्योतिषज्ञान के सिद्धान्त और फलित को क्रमबद्ध किया। इनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

आर्यभट्ट – इनका जन्म 476 ईसवी सन् में हुआ तथा अवसान 550 ईसवी सन् में हुआ, ऐसा माना जाता है। ये इस काल के महान ज्योतिर्विद एवं गणितज्ञ थे। आर्यभटीयम् इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसमें इनके सभी सिद्धान्त निहित हैं।

वराहमिहिर – इनका जन्म ४८५ ई. में माना जाता है । इन्होंने बृहत्संहिता, बृहत्जातक, लघुजातक, विवाह पटल आदि ग्रन्थों की रचना की ।

कल्याण वर्मा – इनका समय ई. सन् ५७८ माना जाता है । इन्होंने यवनों के होराशास्त्र का सार ग्रहण कर सारावली नामक फलित ग्रन्थ की रचना की ।

ब्रह्मगुप्त – इनका जन्म शक ५२० में हुआ इन्होंने ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त की रचना की।

महावीराचार्य – ये जैन धर्मावलम्बी थे और गणित के उद्भट विद्वान् थे। इसका समय ई. सन् ८५० माना जाता है। गणितसार इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त मुञ्जाल, श्रीपति, श्रीधर, भट्टोत्पल आदि महान् ज्योतिर्विद हुए। जिन्होंने अपने ज्ञान से ज्योतिष शास्त्र को समृद्ध किया।

(उत्तरमध्यकाल ई. १००१ से ई. १६०० तक का समय)

उत्तरमध्यकाल में ज्योतिष शास्त्र के साहित्य का अत्यधिक विकास हुआ है। मौलिक ग्रन्थों के अतिरिक्त आलोचनात्मक ज्योतिष के अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। भास्कराचार्य ने अपने पूर्ववर्ती आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, लल्ल आदि के सिद्धान्तों की आलोचना की और आकाश निरीक्षण द्वारा ग्रहमान की स्थूलता ज्ञात कर उसे दूर करने के लिए बीजसंस्कार की व्यवस्था बतलायी। ईसवी सन् की १२ वीं सदी में गोल विषय के गणित का प्रचार बहुत हुआ था। उत्तरमध्यकाल की प्रमुख विशेषता ग्रहगणित के सभी अंगों के संशोधन की है। लम्बन, नति, आयनबलन, आक्षबलन, आयनदृक्कर्म, आक्षदृक्कर्म, भूभाबिम्ब साधन, ग्रहों के स्पष्टीकरण के विभिन्न गणित और तिथ्यादि के साधन

में विभिन्न प्रकार के संस्कार किये गये, जिससे गणित द्वारा साधित ग्रहों का मिलान आकाश–निरीक्षण द्वारा प्राप्त ग्रहों से हो सके।

इस युग की एक अन्य विशेषता यन्त्र निर्माण की भी है। भास्कराचार्य और महेन्द्रसूरि ने अनेक यन्त्रों के निर्माण की विधि और यन्त्रों द्वारा ग्रहवेध की प्रणाली का निरूपण सुन्दर ढंग से किया है। यद्यपि इस काल के प्रारम्भ में ग्रहगणित का बहुत विकास हुआ, अनेक करण ग्रन्थ तथा सारणियाँ लिखी गयीं, पर ई. सन् की १५ वीं शती से ही ग्रहवेध की परिपाटी का ह्रास होने लग गया था। यों तो प्राचीन ग्रन्थों को स्पष्ट करने और उनके रहस्यों को समझाने के लिए इस युग में अनेक टीकाएँ और भाष्य लिखे गए, पर आकाश–निरीक्षण की प्रथा उठ जाने से मौलिक साहित्य का निर्माण न हो सका। ग्रहलाघव, करणकुतूहल और मकरन्द जैसे सुन्दर करण ग्रन्थों का निर्मित होना भी इस युग के लिए कम गौरव की बात नहीं थी। फलित ज्योतिष में जातक, मुहूर्त, सामुद्रिक, रमल और प्रश्न इन अंगों के साहित्य का निर्माण भी उत्तरमध्यकाल में कम नहीं हुआ है। यवन संस्कृति के अति निकट सम्पर्क के कारण रमल और ताजिक इन अंगों का तो नया जन्म माना जाता है। ताजिक शब्द का अर्थ ही ताजिक देश से प्राप्त शास्त्र है। इस युग में इस विषय पर लगभग दो दर्जन ग्रन्थ लिखे गये । इस शास्त्र में किसी व्यक्ति के नवीन वर्ष और मास में प्रवेश करने की ग्रहस्थिति पर से उसके समस्त वर्ष और मास का फल बताया जाता है। बलभद्रकृत ताजिक ग्रन्थ में कहा गया है :

यवनाचार्येण पारसीकभाषायां प्रणीतं ज्योतिःशास्त्रैकदेशरूपं वार्षिकादिनानाविध फलादेशफलकशास्त्रं ताजिकफलवाच्यं तदनन्तरभूतैः समरसिंहादिभिः

ब्राह्मणैः तदेवशास्त्रं संस्कृतशब्दोपनिबद्धं ताजिकशब्दवाच्यम्। अतएव तैस्ता एव इक्कबालादयो यावत्यः संज्ञा उपनिबद्धाः॥

अर्थात् यवनाचार्य ने फारसी भाषा में ज्योतिष शास्त्र के अंगभूत वर्ष, मास के फल को नाना प्रकार से व्यक्त करने वाले ताजिक शास्त्र की रचना की थी। इसके पश्चात् समरसिंह आदि विद्वानों ने संस्कृत भाषा में इस शास्त्र की रचना की और इक्कवाल, इन्दुवार, इशराफ आदि यवनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित योगों की संज्ञाएँ यथावत् रखीं। इसी कालखण्ड में रमल शास्त्र, मुहूर्त शास्त्र एवं शकुनशास्त्र का भी उत्तरोत्तर विकास हुआ।

इस युग में ज्योतिषशास्त्र के साहित्य का बहुत विकास हुआ । इस काल के ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है ।

भास्कराचार्य – इनका जन्म सन् १११४ का माना जाता है । इन्होंने लीलावतीबीजगणित, सिद्धान्तशिरोमणि, करणकुतूहल और सर्वतोभद्र आदि ग्रन्थों की रचना की ।

दुर्गदेव – इनका समय सन् १०३२ माना जाता है । ये ज्योतिष के मर्मज्ञ विद्वान् थे । इन्होंने अर्धकाण्ड और रिट्ठसमुच्चय नामक दो ग्रन्थ लिखे हैं ।

मल्लिषेण– इनका समय १०४३ माना गया है । इनका आयसद्भाव नामक ग्रन्थ प्राप्त होता है।

मकरन्द – इनका जन्म शक १३६० में माना जाता है । ये सिद्धान्त ज्योतिष के विद्वान् थे । पञ्चाङ्ग निर्माण में इनकी मकरन्द सारणी प्रसिद्ध है ।।

केशव– इनका समय शक १३७८ माना गया है। इन्होंने जातकपद्धति, ताजिकपद्धति, मुहूर्ततत्त्व, वर्षग्रहसिद्धि , कुण्डाष्टकलक्षण, गणितदीपिका, ग्रहकौतुक आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की।

महेन्द्र सूरी – इनका जन्म शक 1450 में हुआ था । इन्होंने यन्त्रराज नामक ग्रहगणित के ग्रन्थ की रचना की।

ढुण्डीराज – इनका समय शक १४६३ है । इन्होंने जातकाभरणम् नामक फलित ग्रन्थ की रचना की।

इनके अतिरिक्त नीलकण्ठ, रामदैवज्ञ, मल्लारी आदि अनेक विद्वानों ने अपनी रचनाओं और ज्ञान से ज्योतिष शास्त्र को उपकृत किया। उत्तरम/यकाल में भारतीय ज्योतिष ने अनेक उत्थानों और पतनों को देखा है। विदेशियों के सम्पर्क से होनेवाले संशोधनों को अपने में पचाया है और प्राचीन भारतीय ज्योतिष की गणितविषयक स्थूलताओं को दूर कर सूक्ष्मता का प्रचार किया है। यदि संक्षेप में उत्तरमध्यकाल के ज्योतिष साहित्य पर दृष्टिपात किया जाये तो यही कहा जा सकता है कि इस काल में गणित ज्योतिष की अपेक्षा फलित ज्योतिष का साहित्य अधिक फलादृफूला है। गणित ज्योतिष में भास्कर के समान अन्य दूसरा विद्वान नहीं हुआ, जिससे विपुल परिमाण में इस विषय की सुन्दर रचनाएँ नहीं हो सकी। इस काल में भास्कराचार्य, दुर्गदेव, उदयप्रभदेव, मल्लिषेण, राजादित्य, बल्लालसेन, पद्मप्रभ सूरि, नरचन्द्र उपाध्याय, अट्ठकवि या अर्हद्दास, महेन्द्रसूरि, मकरन्द, केशव, गणेश, ढुण्ढिराज,नीलकण्ठ, रामदैवज्ञ, मल्लारि, नारायण तथा रंगनाथ आदि जैसे अनेकों विद्वान हुए जिन्होंने अपनी अपूर्व कृतियों से भारतीय ज्योतिष शास्त्र को और पुष्पवित तथा पल्लवित करने में अपना योगदान दिया।

(आधुनिककाल ई. १६०१ से ई. सन् १६५१ तक का समय)

आधुनिक काल के आरम्भ में मुस्लिम संस्कृति के साथ–साथ पाश्चात्य सभ्यता का प्रचार भी भारत में हुआ। इस काल में भारतीय ज्ञान विज्ञान की सम्पत्ति को मुस्लिम शासकों ने नष्ट किया । हिन्दूधर्म, सम्पत्ति, साहित्य और ज्योतिष आदि विषयों का विकास रूक गया। विद्वानों को राजाश्रय न मिलने से ज्योतिष के प्रसार और विकास में बाधाएँ आयी। नवीन संशोधन और परिवर्द्धन तो अलग की बात है, पुरातन ज्योतिष ज्ञानदृभण्डार का संरक्षण भी कठिन हो गया। शकुन, प्रश्न, मुहूर्त, जन्म–पत्र के साहित्य की इस काल में अवश्य वृद्धि हुई ।

कमलाकर भट्ट ने सूर्यसिद्धान्त का प्रचार करने के लिए 'सिद्धान्ततत्वविवेक' नामक गणित ज्योतिष का महत्वपूर्ण ग्रन्थ रचा है। इस अर्वाचीन काल के प्रारम्भ में प्राचीन ग्रन्थों पर टीका–टिप्पणी के ग्रन्थ बहुत लिखे गये। १७८० में जयपुर के महाराज जयसिंह का ध्यान ज्योतिष की ओर विशेष आकृष्ट हुआ और उन्होंने काशी, जयपुर एवं दिल्ली में वेधशालाएँ बनवायीं, जिनमें पत्थरों की ऊँची और विशाल दीवारों के रूप में बड़े–बड़े यन्त्र बनवाये। स्वयं महाराज जयसिंह इस विद्या के प्रेमी थे, इन्होंने यूरोप की प्रचलित तारासूचियों में कई त्रुटियाँ बताई तथा भारतीय ज्योतिष के आधार पर नवीन सारणियाँ तैयार करायीं।

सामन्तचन्द्रशेखर ने अपने अद्वितीय बुद्धिकौशल द्वारा ग्रहवेध कर प्राचीन गणितज्ञ ज्योतिष के ग्रन्थों में संशोधन किया तथा अपने सिद्धान्तों द्वारा ग्रहों की गतियों के विभिन्न प्रकार बतलाये। इनके द्वारा रचित 'सिद्धान्तदर्पण' नामक ग्रन्थ दृग्गणितैक्य पर आधारित अन्तिम सिद्धान्त ग्रन्थ के रूप में जाना जाता है।

इधर अंग्रेजी सभ्यता के सम्पर्क से भारत में अंग्रेजी भाषा का प्रचार हो गया। इस भाषा के प्रचार के साथ–साथ अंग्रेजी आधुनिक भूगोल और गणितविषयक विभिन्न ग्रन्थों का पठन –पाठन की प्रथा भी प्रचलित हुई। सन् १८५७ के पश्चात् तो आधुनिक नवीन आविष्कृत विज्ञानों का प्रभाव भारत के उपर विशेष रूप से पड़ा है। फलतः अंग्रेजी भाषा के जानकार संस्कृत के विद्वानों ने इस भाषा के नवीन गणित ग्रन्थों का अनुवाद संस्कृत में कर ज्योतिष की श्रीवृद्धि की है। बापूदेव शास्त्री और पं. सुधाकर द्विवेदी ने इस और विशेष प्रयत्न किया है। इन महानुभावों के प्रयासों के फलस्वरूप ही रेखागणित, बीजगणित और त्रिकोणमिति के ग्रन्थों से आज का ज्योतिष धनी कहा जाने लगा। केतक नामक विद्वान ने केतकीग्रहगणित की रचना अंग्रेजी ग्रहदृगणित और भारतीय गणित सिद्धान्तों के समन्वय के आधार पर की है। दीर्घवृत्त, परिवलय, अतिपरवलय, इत्यादि के गणित का विकास इस नवीन सभ्यता के सम्पर्क की मुख्य देन माना जाता है।

पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य, सौर–चक्र, बुध, शुक्र, मंगल, अवान्तर ग्रह, वृहस्पति, यूरेनस, नेपच्यून, नभस्तूप, आकाशगंगा और उल्का आदि का वैज्ञानिक विवेचन पश्चिमीय ज्योतिष के सम्पर्क से इधर चार दशकों के बीच में विशेष रूप से हुआ है। डॉ. गोरखप्रसाद ने आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणों के आधार पर इस विषय की एक विशालकाय सौरपरिवार नाम की पुस्तक लिखी है जिससे सौर जगत् के सम्बन्ध में अनेक नवीन बातों का पता लगता है। श्री सम्पूर्णानन्द जी ने ज्योतिर्विनोद नामक पुस्तक में कापर्निकस, जिओईनो, गैलेलियो और केप्लर आदि पाश्चात्य ज्योतिषियों के अनुसार ग्रह, उपग्रह और अवान्तर ग्रहों का स्वरूप बतलाया है। श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव ने सूर्य सिद्धान्त का आधुनिक सिद्धान्तों के आधार पर विज्ञानभाष्य लिखा है, जिससे संस्कृतज्ञ ज्योतिष के विद्वानों का बहुत उपकार हुआ ह। अभिप्राय यह है कि आधुनिक युग में पाश्चात्य ज्योतिष के सम्पर्क से गणित ज्योतिष के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक विवेचन प्रारम्भ हुआ है।

इस काल में अनेक प्रसिद्ध विद्वान् हुए जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

मुनीश्वर – इनका समय शक १५२५ माना जाता है । इन्होंने सिद्धान्त सार्वभौम नामक ग्रन्थ की रचना की ये काव्य, ज्योतिष, व्याकरण के विद्वान् थे।

महीमोदय – ये लब्धिविजय सूरि के शिष्य थे । इनका समय १७२२ ई– माना जाता है। इन्होंने ज्योतिषरत्नाकर, गणित साठ सौ, पञ्चाङ्गनयनविधि आदि ग्रन्थों की रचना की ।

मेघ विजयगणि – इनका समय वि.स.१७३७ के लगभग माना जाता है । इनकी प्रमुख रचनाएँ वर्ष प्रबोध, उदयदीपिका, रमलशास्त्र और हस्तसञ्जीवन है।

वाघजीमुनि – इनका समय वि.स. १७८३ माना जाता है । इन्होंने तिथिसारणी नामक ग्रन्थ की रचना की है।

बापूदेव शास्त्री – इनका जन्म १८२१ में पूना में हुआ था । इन्होंने त्रिकोणमिति, बीजगणित और अव्यक्त गणित नामक ग्रन्थों की रचना की।

सामन्तचन्द्रशेखर – इनका जन्म १८३५ हुआ ये अद्भुत विद्वान् थे । इन्होंने सिद्धान्तदपर्ण नामक ग्रन्थ की रचना की।

नीलाम्बर शर्मा – इनका जन्म शक १७४५ में हुआ । इन्होंने गोलप्रकाश ग्रन्थ लिखा है।

सुधाकर द्विवेदी – इनका जन्म 1855 ई. में हुआ इन्होंने भारतीय ज्योतिष को एक नई दिशा दी, ये गणित के प्रख्यात आचार्य हुए।

इनके अतिरिक्त अनेक प्रसिद्ध ज्योतिर्विद इस काल में हुए हैं,

नेमिचन्द्र शास्त्री ने १६५१ तक के काल का ही उल्लेख किया है, अर्वाचीन काल में दिवाकर, कमलाकर भट्ट, नित्यानन्द, उभयकुशल, लब्धिचन्द्रमणि यशस्वतसागर, जगन्नाथ सम्राट, नीलाम्बर झा, सुधाकर द्विवेदी, शिवलाल पाठक, पण्डित सूर्य नारायण व्यास, आचार्य महामहोपाध्याय सदाशिव शास्त्री मुसलगांवकर, शिवदैवज्ञ, लज्जाशंकर शर्मा, लक्ष्मीपति, पं. रामयत्न ओझा, पं. रामव्यास पाण्डेय, पं. अवधबिहारी त्रिपाठी, पं. मीठालाल ओझा, पं. सीताराम झा, आचार्य राजमोहन उपाध्याय, आचार्य रामचन्द्र पाण्डेय, पं. हीरालाल मिश्र, आचार्य कल्याण दत्त शर्मा, आचार्य शुकदेव चतुर्वेदी, आचार्य रामचन्द्र झा, शिवकान्त झा, आचार्य सच्चिदानन्द मिश्र आदि अनेकों ऐसे ज्योतिष शास्त्र के विद्वान हुए हैं और हैं, जिन्होंने अपने परिश्रम और ज्ञान से ज्योतिष का प्रचार प्रसार किया। इन्होंने अपनी–अपनी कृतियों से इस शास्त्र की रक्षा के साथ–साथ इनको पुष्पित और पल्लवित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया और दे रहे हैं।

3.4 सारांश

सभी विद्याओं की तरह ही ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति का मूल भी 'वेद' है। वेदों की रचना का का परम उद्देश्य "इष्ट की प्राप्ति व अनिष्ट का परिहार" है, और वही ज्योतिष शास्त्र का भी उद्देश्य है। ज्योतिष शास्त्र वैदिककालीन ऋषि–महर्षियों की कठिन तपस्या, शोध व अलौकिक प्रतिभा की देन है। भारतीय विद्याओं में इसका स्थान अद्वितीय है। ज्योतिष चतुर्दश विद्या में एक माना जाता है। जिसका स्वरूप मूलतः दर्शनशास्त्र पर आधारित है। मनुष्य के कर्मफल भोग का, जीवन की सभी शुभाशुभ घटनाओं का, उसकी संरचना और प्रकृति का इस ब्रह्माण्ड से अभिन्न सम्बन्ध है। अपने पूर्वजन्मार्जित कर्मों को भोगने के लिये जन्म के समय आत्मा उसी प्रकार की ब्रह्माण्डीय स्थिति का चयन करती है। और आगे जीवन में विभिन्न काल में उसी प्रकार की ग्रहों की दशा अन्तर्दशा मनुष्य के जीवन में आती है जिससे कि वह अपने कर्मों का शुभाशुभ फल भोग सके। इसके अन्तर्गत पिण्ड और ब्रह्माण्ड, व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्धों का अध्ययन समग्र रूप से किया जाता है। ग्रह, नक्षत्र, तारे, राशियाँ, मन्दाकिनियाँ, निहारिकाएं एवं चराचर प्राणी, वृक्ष, चट्टानें आदि विश्वब्रह्माण्डीय घटक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से एकदृदूसरे से संबंधित हैं। इन ग्रहदृनक्षत्रों का मानवदृ जीवन पर सम्मिलित प्रभाव पड़ता है। वे कभी कष्ट दूर करते हैं, तो कभी कष्ट भी देते हैं। ये तत्व मनुष्य की सूक्ष्म संरचना एवं मनःसंस्थानों पर कार्य करते हैं और उसकी भावनाओं तथा मानसिक स्थितियों को अधिक प्रभावित करते हैं। ज्योतिष शास्त्र के अध्ययन और उपयोग से मनुष्य को जीवन के सभी क्षेत्रों में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है। इस इकाई में आपने मुख्य रूप से ज्योतिष शास्र की उत्पत्ति व विकास क्रम का अध्ययन किया। सूर्य, पितामह, व्यास, वशिष्ठ, अत्रि, पाराशर, काश्यप, नारद, गर्ग, मरीचि, मनु, अङ्गिरा, लोमश पौलिश च्यवन,यवन और शौनक ये १८ ज्योतिष शास्त्र के प्रवर्तक बताए गए हैं।

3.5 पारिभाषिक शब्दावली

वैदिककालीन – वेदों के समय का

खगोल – आकाशीय पिण्डों का अध्ययन जिसके अन्तर्गत किया जाता है, उसे खगोल कहते है।

3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क) भारतीय ज्योतिष – आचार्य श्रीशंकरबालकृष्णदीक्षित

ख) भारतीय ज्योतिष – आचार्य नेमिचन्द शास्त्री।

ग) सिद्धान्त ज्योतिष मंजूषा – प्रोफेसर विनय कुमार पाण्डेय।

घ) ज्योतिष शास्त्र – डॉ. कामेश्वर उपाध्याय।

3.7 सहायक पाठ्यसामग्री

ज्योतिष शास्त्र का इतिहास – लोकमणि दाहाल

सुलभ ज्योतिष ज्ञान – पं. वासुदेव सदाशिव खानखोजे

3.8 बोध प्रश्न

1. ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति का संक्षेप में वर्णन कीजिये।
2. ज्योतिष शास्त्र के विकास क्रम का प्रतिपादन कीजिये।
3. ज्योतिष के वैशिष्ट्य के सन्दर्भ में विभिन्न विद्वानों का मत उपस्थापित कीजिये।
4. ज्योतिष के आधुनिक काल में विकास पर निबन्ध लिखिये।

इकाई 4 ज्योतिष शास्त्र के प्रवर्तक एवम् आचार्य

इकाई की संरचना

4.0 प्रस्तावना

पूर्व की इकाई में आप ज्योतिष शास्त्र के उद्‌भव व विकास का अध्ययन कर चुके हैं। इस इकाई में आप ज्योतिष शास्त्र के प्रवर्तक एवं आचार्यों के सन्दर्भ में अध्ययन करेंगे।

प्रवर्तक का अर्थ है – वे विद्वान, शोधकर्ता या आचार्य जिन्होंने किसी भी विषय या मूल सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रतिपादन किया हो। जैसे गौतम बुद्ध को बुद्ध धर्म का प्रवर्तक कहा जा सकता है, क्योंकि उन्होने ही इस धर्म के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। वैसे ही अनेक प्राचीन आचार्यों ने अपने तपोबल से तथा सतत अन्वेक्षण से मानव मात्र के कल्याण के लिये इस ज्योतिष शास्त्र का प्रवर्तन किया। प्रवर्तक शब्द के अनेक अर्थ किये जा सकते हैं – १. प्रवर्तन करने वाला। २. किसी कार्य, विचार या सिद्धान्त का आरम्भ करने वाला ३. प्रवृत्त करने वाला। ४. प्रेरित करने वाला। ५. गति देने या चलाने वाला। ६. नया आविष्कार करने वाला। ७. प्रचलन करने वाला।

आचार्य –

आचार्य शब्द का अर्थ ब्रह्मपुराण के पूर्वभाग में इस प्रकार से प्रतिपादित किया गया है–

आचिनोति च शास्त्राणि आचारे स्थापयत्यपि।
स्वयम् आचरते यस्मात् तस्मात् आचार्य उच्यते।।

(ब्रह्मपुराण पूर्वभाग ३२.३२)

जिसने विभिन्न शास्त्रों का सम्यक् रूप से अध्ययन किया हो और उस ज्ञान को आत्मसात भी किया हो, उसका स्वयं के जीवन में आचरण किया हो, निरन्तर अभ्यास किया हो और उस ज्ञान को शिष्यों को उसी रूप में प्रदान भी किया हो वह आचार्य कहलाता है

One who has mastered and is well versed in various *śāstras* and who is able to put it into practice as well as enables his students to get into the practice of these is called ***ācāryaḥ.***

प्राचीन काल में आचार्य एक शिक्षा संबंधी पद था। उपनयन संस्कार के समय बालक का अभिभावक उसको आचार्य के पास ले जाता था। विद्या के क्षेत्र में आचार्य के बिना विद्या, श्रेष्ठता और सफलता की प्राप्ति नहीं होती– आचार्याद्धि विद्या विहिता साधिष्ठं प्रापयतीति।–छांदोग्य 4–9–3। उच्च कोटि के प्रध्यापकों में आचार्य, गुरु एवं उपाध्याय होते थे, जिनमें आचार्य का स्थान सर्वोत्तम था। मनुस्मृति (2–141) के अनुसार उपाध्याय वह होता था जो वेद का कोई भाग अथवा वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद तथा ज्योतिष) विद्यार्थी को जीविका के लिए शुल्क लेकर पढ़ाता था। गुरु अथवा आचार्य विद्यार्थी का संस्कार करके उसको अपने पास रखता था तथा उसके संपूर्ण शिक्षण और योगक्षेम की व्यवस्था करता था (मनुः 2–140)। आचार्य शब्द के अर्थ और योग्यता पर सविस्तार विचार किया गया है। निरुक्त (1–4) के अनुसार उसको आचार्य इसलिए कहते हैं कि वह विद्यार्थी से आचारशास्त्रों के अर्थ तथा बुद्धि का आचयन कराता है। आपस्तंब धर्मसूत्र (1.1.1.4) के अनुसार उसको आचार्य इसलिए कहा जाता है कि विद्यार्थी उससे धर्म का आचयन करता है। आचार्य का चुनाव बड़े महत्व का होता था। वह अंधकार से घोर अंधकार में प्रवेश करता है जिसका उपनयन अविद्वान् करता है। इसलिए कुलीन, विद्यासंपन्न तथा सम्यक् प्रकार से संतुलित बुद्धि वाले व्यक्ति को आचार्य पद के लिए चुनना चाहिए। (आप.ध.सू. 1.1.1.11–13)। यम (वीरमित्रोदय, भाग 1, पृ. 408) ने आचार्य की योग्यता निम्नलिखित प्रकार से बतलाई है : सत्यवाक्, धृतिमान्, दक्ष, सर्वभूतदयापर, आस्तिक, वेदनिरत तथा शुचियुक्त, वेदाध्ययन संपन्न, वृत्तिमान्, विजितेंद्रिय, दक्ष, उत्साही, यथावृत्त, जीवमात्र से स्नेह रखने वाला आदि आचार्य कहलाता है। आचार्य आदर तथा श्रद्धा का पात्र था। श्वेताश्वतरोपनिषद् (6–23) में कहा गया है : जिसकी ईश्वर में परम भक्ति है, जैसे ईश्वर में वैसे ही गुरु में, क्योंकि इनकी कृपा से ही अर्थों का प्रकाश होता है। इस इकाई में हम ज्योतिष शास्त्र के प्रवर्तकों एवं आचार्यों के सन्दर्भ में अध्ययन करेंगे।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप :

- ज्योतिष शास्त्र के मूल प्रवर्तकों का परिचय जानेंगे।
- प्रवर्तक और आचार्य में अन्तर समझ लेंगे।
- ज्योतिष शास्त्र के प्राचीन आचार्य परम्परा का परिचय प्राप्त करेंगे।
- ज्योतिष शास्त्र के आर्वाचीन आचार्यों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेंगे।
- ज्योतिष शास्त्र के ऋषियों एवं आचार्यों के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन कर सकेंगे।

4.2 ज्योतिष शास्त्र के प्रवर्तक

सभी विद्याओं के मूल वेद हैं। समस्त ज्ञान विज्ञान वेदों से ही निःसृत हुआ है। अतः वैदिक ऋषि ही ज्योतिष शास्त्र के भी प्रवर्तक माने जाते हैं। ऋषियों ने ही अपनी समाधि की परम अवस्था में इस जगत् के समस्त रहस्यों को जाना और उद्घोष किया कि "यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे" अर्थात् जो इस पिण्ड (शरीर) में है, वही इस ब्रह्माण्ड में है। अथवा यह भी कहा जा सकता है जो इस ब्रह्माण्ड में है वही इस पिण्ड में भी है। प्रकृति के जो नियम इस ब्रह्माण्ड के लिये लागू होते है वे ही नियम इस पिण्ड के लिये भी लागू होते हैं। ऋषियों ने इसी पिण्ड में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देखा व मनुष्य के साथ इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्सम्बन्ध को प्रतिपादित किया। जिस प्रकार वेदों की रचना किसी एक ऋषि द्वारा नहीं की गई है, अपितु प्रत्येक मन्त्र का द्रष्टा एक ऋषि विशेष

है। इसी प्रकार से ज्योतिष शास्त्र का भी प्रवर्तक कोई एक आचार्य अथवा ऋषि ही नहीं है अपितु यह शास्त्र अनेक आचार्यों की विलक्षण प्रतिभा व तपश्चर्या का परिणाम है। अनेक आचार्यों ने विभिन्न प्रकार के अनुभवों से, सतत अन्वेक्षण से, अपनी अर्न्तृष्टि से तथा निरन्तर शोध से अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। मुख्य रूप से ज्योतिष शास्त्र के अठारह प्रवर्तक माने गये हैं, जिन्होने विभिन्न मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है । उनके नाम निम्न प्रकार से हैं –

सूर्यः पितामहो व्यासः वशिष्ठोऽत्रि पराशरः।
कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिः मनुरंगिरा ॥
लोमशः पौलिशश्चैव च्यवनो यवनो भृगुः।
शौनकोऽष्टदशाश्चैते ज्योतिष्शास्त्रप्रवर्तकाः॥

1. सूर्य 2. पितामह 3. व्यास 4. वशिष्ठ 5. अत्रि 6. पराशर 7. कश्यप 8. नारद 9. गर्ग 10. मरीचि 11. मनु 12. अंगिरा 13. लोमश 14. पौलिश 15. च्यवन 16. यवन 17. भृगु 18. शौनक।

सूर्य – वराहमिहिर ने अपने ग्रन्थ पंचसिद्धान्तिका में सूर्यसिद्धान्त का वर्णन किया है। इससे पृथक् भी एक स्वतन्त्र सूर्यसिद्धान्त नाम का ग्रन्थ उपलब्ध होता है। इसमें वर्णन है कि कृतयुग (सत्ययुग) के अन्त में मय दानव ने भगवान सूर्य की तपस्या की थी और उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान सूर्य ने अपने अंश पुरूष द्वारा मय दानव को काल एवं ग्रहगणित का सम्पूर्ण ज्ञान प्रदान किया।

पितामह –पितामह द्वारा लिखित कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। वराहमिहिर द्वारा रचित पंचसिद्धान्तिका में पितामहसिद्धान्त भी है। वर्तमान में ब्रह्मसिद्धान्त के नाम से तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध है – ब्रह्मगुप्त का ब्रह्मसिद्धान्त, विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अन्तर्गत वर्णित ब्रह्मसिद्धान्त और तीसरा शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त।

व्यास –पुराणों और उपनिषदों के रचयिता वेद व्यास जी को माना जाता है, व्यास जी द्वारा लिखित कोई स्वतन्त्र ज्योतिष ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं है किन्तु विभिन्न पुराणों में ज्योतिष शास्त्र का वर्णन मिलता है। अतः व्यास जी को ज्योतिष शास्त्र का प्रवर्तक बताया गया है। पौराणिक वर्णनों से यह अनुमान लगाया जाता है कि व्यास किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है अपितु यह एक उपाधि है। प्रत्येक युग के आदि में ईश्वरीय प्रेरणा से पुराणों का विस्तार से व्याख्यान करने वाले को व्यास कहा जाता था। कृष्णद्वैपायन ऋषि जो सत्यवती के पुत्र माने जाते है। वे इस युग में व्यास के नाम से जाने जाते है।

वसिष्ठ –ऋषि वशिष्ठ महान सप्तऋषियों में से एक हैं। महर्षि वशिष्ठ सातवें और अंतिम ऋषि थे। वे श्री राम के गुरु भी थे और सूर्यवंश के राजपुरोहित भी थे। उन्हें ब्रह्माजी का मानस पुत्र भी कहा जाता है। कुछ उल्लेखों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि वशिष्ठ के सिद्धान्त, संहिता और होरा इन तीनों स्कन्धों पर ग्रन्थ थे किन्तु आजकल केवल वशिष्ठ संहिता और वृद्ध वशिष्ठ संहिता नामक ग्रन्थ ही उपलब्ध होते हैं। वशिष्ठ सिद्धान्त का उल्लेख तो मिलता है किन्तु पंचसिद्धान्तिका के अतिरिक्त ग्रन्थ नहीं मिले है।

अत्रि –अत्रि सात महान वैदिक ऋषियों में से एक है। अत्रि ब्रह्मा के पुत्र थे जो उनके नेत्रों से उत्पन्न हुए थे। इन्होंने कर्दम की पुत्री अनुसूया से विवाह किया था। इन दोनों के पुत्र दत्तात्रेय थे। इन्होंने अलर्क, प्रह्लाद आदि को आन्वीक्षकी की शिक्षा

दी थी। ऋग्वेद के पंचम मण्डल के द्रष्टा महर्षि अत्रि हैं। ऋग्वेद के पंचम 'आत्रेय मण्डल' का 'कल्याण सूक्त' ऋग्वेदीय 'स्वस्ति–सूक्त' है, वह महर्षि अत्रि की ऋतम्भरा प्रज्ञा से ही हमें प्राप्त हुआ है यह 'कल्याण–सूक्त', 'मंगल–सूक्त' तथा 'श्रेय–सूक्त' भी कहलाता है। जो आज भी प्रत्येक मांगलिक कार्यों, शुभ संस्कारों तथा पूजा, अनुष्ठानों में स्वस्ति, कल्याण, अभ्युदय, भगवत्कृपा तथा अमंगल के विनाश के लिये सस्वर पठित होता है। प्रसंगवश अनेक स्थानों पर अत्रि का नामोल्लेख मिलता है किन्तु स्वतन्त्र ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नही है। प्रमाणों के आधार पर ऐसा लगता है कि अत्रि को ग्रहणादि साधन में विशेष दक्षता प्राप्त थी।

पराशर –पराशर एक मन्त्रद्रष्टा ऋषि, शास्त्रवेत्ता, ब्रह्मज्ञानी एवं स्मृतिकार है। ये महर्षि वसिष्ठ के पौत्र, गोत्रप्रवर्तक, वैदिक सूक्तों के द्रष्टा और ग्रंथकार हैं। यास्क ने अपने निरुक्त में पराशर के मूल का भी उल्लेख किया है। ये कृष्णद्वैपायन व्यास के पिता थे तथा इनके पिता का नाम 'शक्ति' था। वराह ने पराशर को शक्तिपुत्र कहा है। भारतीय ज्योतिष के प्रवर्तकों में महर्षि पराशर अग्रगण्य हैं। पराशर द्वारा लिखित लघुपराशरी, मध्यपाराशरी, वृहत्पराशरहोरा शास्त्र नाम के तीनों होराशास्त्रीय ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं और सुप्रसिद्ध हैं। यद्यपि मध्यपाराशरी के विषय में मतान्तर भी है। पराशरतन्त्र ग्रन्थ का उल्लेख भट्टोत्पल ने अनेक स्थानों पर किया है। उन्होंने बृहज्जातक व बृहत्संहिता की टीका में पाराशरी संहिता देखने व पढ़ने की बात स्वीकार की है।

नारद – नारद श्रुति–स्मृति, इतिहास, पुराण, व्याकरण, वेदांग, संगीत, खगोल–भूगोल, ज्योतिष, योग आदि अनेक शास्त्रों में पारंगत थे। नारद आत्मज्ञानी, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, त्रिकाल ज्ञानी, वीणा द्वारा निरंतर प्रभु भक्ति के प्रचारक, दक्ष, मेधावी, निर्भय, विनयशील, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, स्थितप्रज्ञ, तपस्वी, चारों पुरुषार्थ के ज्ञाता, परमयोगी, सूर्य के समान, त्रिलोकी पर्यटक, वायु के समान सभी युगों, समाजों और लोकों में विचरण करने वाले, वश में किये हुए मन वाले नीतिज्ञ, अप्रमादी, आनंदरत, कवि, प्राणियों पर निःस्वार्थ प्रीति रखने वाले, देव, मनुष्य, राक्षस सभी लोकों में सम्मान पाने वाले देवर्षि थे। श्रीमद्भगवद्गीता के दशम अध्याय के २६वें श्लोक में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने इनकी महत्ता को स्वीकार करते हुए कहा है –**देवर्षीणां च नारदः।** देवर्षियों में मैं नारद हूं। श्रीमद्भागवत महापुराण का कथन है, सृष्टि में भगवान ने देवर्षि नारद के रूप में तीसरा अवतार ग्रहण किया और नारद–पांचरात्र का उपदेश दिया जिसमें सत्कर्मो के द्वारा भव–बंधन से मुक्ति का मार्ग दिखाया गया है। नारद जी मुनियों के देवता थे और इस प्रकार, उन्हें ऋषिराज के नाम से भी जाना जाता था। अट्ठारह महापुराणों में एक नारदोक्त पुराण, बृहन्नारदीय पुराण के नाम से प्रख्यात है। मत्स्यपुराण में वर्णित है कि श्री नारद जी ने बृहत्कल्प–प्रसंग में जिन अनेक धर्म–आख्यायिकाओं को कहा है, वह २५,००० श्लोकों का महाग्रन्थ ही नारद महापुराण है। वर्तमान समय में उपलब्ध नारदपुराण २२,००० श्लोकों वाला है। ३,००० श्लोकों की न्यूनता प्राचीन पाण्डुलिपि का कुछ भाग नष्ट हो जाने के कारण हुई है। नारदपुराण में लगभग ७५० श्लोक ज्योतिष शास्त्र पर हैं। इनमें ज्योतिष के तीनों स्कन्ध–सिद्धांत, होरा और संहिता की सर्वांगीण विवेचना की गई है। नारदसंहिता के नाम से उपलब्ध इनके एक अन्य ग्रन्थ में भी ज्योतिष शास्त्र के सभी विषयों का सुविस्तृत वर्णन मिलता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि देवर्षिनारद भक्ति के साथ–साथ ज्योतिष के भी प्रधान आचार्य हैं।

गर्ग – ऋग्वेद के छठें मंडल का 47 वाँ सूक्त इन्हीं का रचा है। ये एक प्राचीन ज्योतिर्वेत्ता थे जिनके पुत्र का नाम गार्ग्य और पुत्री का नाम गार्गी था। यह स्वयम् उतथ्य के पुत्र थे। यह यादवों के पुरोहित थे। वसुदेव की प्रार्थना पर नन्द के ब्रज गये

थे। इन्होंने शेषनाग से ज्योतिष शास्त्र सीखा था। भागवत पुराण के अनुसार श्रीकृष्ण और बलराम का नामकरण इन्हांने ही किया था। ये इन दोनों के उपनयन में भी सम्मिलित थे। इन्हीं ने उन्हें गायत्री मंत्र का उपदेश दिया था और युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भी ये आमन्त्रित थे। गर्ग संहिता नाम का ज्योतिष शास्त्रीय ग्रन्थ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त भट्टोत्पलटीका में अनेक स्थलों पर गर्ग के वचनों का उल्लेख मिलता है, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

मनु –सनातन धर्म के अनुसार मनु संसार के प्रथम पुरुष थे। प्रथम मनु का नाम स्वयंभुव मनु था, जिनके संग प्रथम स्त्री शतरूपा थी। ये 'स्वयं भू' (बिना माता–पिता) थे। इन्हीं प्रथम पुरुष और प्रथम स्त्री की सन्तानों से संसार के समस्त जनों की उत्पत्ति हुई। मनु की सन्तान होने के कारण वे मानव या मनुष्य कहलाए। स्वायंभुव मनु को आदि भी कहा जाता है। ब्रह्मा के एक दिन को कल्प कहते हैं। एक कल्प में 14 मनु होते हैं। एक मनु के काल को मन्वन्तर कहते हैं। वर्तमान में वैवस्वत मनु (7वें मनु) हैं। मनु नामक अनेक उल्लेखों से प्रतीत होता है कि यह नाम न होकर उपाधि है। मेधातिथि, जो मनुस्मृति के भाष्यकार हैं, मनु को उस व्यक्ति की उपाधि कहते हैं, जिसका नाम प्रजापति है। वे धर्म के प्रकृत रूप के ज्ञाता थे एवं मानव जाति को उसकी शिक्षा देते थे। इस प्रकार यह विदित होता है कि मनु एक उपाधि है। मनु विरचित मनुस्मृति धर्मशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ है किन्तु उसमें ज्योतिष सम्बन्धी बहुत सारी बातें मिलती है। स्वतन्त्र रूप से भी इनका ज्योतिष शास्त्रीय ग्रन्थ रहा हो यह सम्भव तो है, किन्तु उपलब्ध नहीं होता है।

भृगु – ये महर्षि भृगु ब्रह्मा जी के नौ मानस पुत्रों में अन्यतम हैं। एक प्रजापति भी हैं और सप्तर्षियों में इनकी गणना है। सुप्रसिद्ध महर्षि च्यवन इन्हीं के पुत्र हैं प्रजापति दक्ष की कन्या ख्याति देवी को महर्षि भृगु ने पत्नी रूप में स्वीकार किया, जिनसे इनकी पुत्र–पौत्र परम्परा का विस्तार हुआ। महर्षि भृगु के वंशज भार्गव कहलाते हैं। महर्षि भृगु तथा उनके वंशधर अनेक मन्त्रों के द्रष्टा हैं। ऋग्वेद में उल्लेख आया है कि कवि उशना (शुक्राचार्य) भार्गव थे। कवि उशना भी वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। ऋग्वेद के नवम मण्डल के 47 से 49 तथा 75 से 79 तक के सूक्तों के ऋषि भृगु पुत्र उशना ही है। इसी प्रकार भार्गव वेन, सोमाहुति, स्यूमरश्मि, भार्गव, आर्वि आदि भृगुवंशी ऋषि अनेक मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि हैं। ऋग्वेद में पूर्वोक्त वर्णित महर्षि भृगु की कथा तो प्राप्त नहीं होती, किंतु इनका तथा इनके वंशधरों का मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के रूप में ख्यापन हुआ है। यह सब महर्षि भृगु की महिमा का ही विस्तार है। महर्षि भृगु के परिवारिक जीवन से अपरिचित जन भी महर्षि द्वारा प्रणीत ज्योतिष–खगोल के महान् ग्रंथ भृगु संहिता के बारे में जानते है। इस नाम से अनेक पुस्तकें आज भी साहित्य विक्रेताओं के यहां बिकती हुई दिखाई देती है। भृगुसंहिता के अनेक संस्करण मिलते हैं। प्रशस्ति के अनुसार कोई भी संस्करण नहीं है। अनेक स्थानों पर खण्डित मातृकाएँ हैं भी, तो वे प्रामाणिक नहीं प्रतीत होती हैं।

मरीचि – मरीचि एक ऋषि हैं। वे ब्रह्मा के मानसपुत्र तथा सप्तर्षियों में से एक हैं। गीता के अनुसार मरीचि वायु है और कश्यप ऋषि के पिता हैं। इन्होंने ही भृगु को दण्डनीति की शिक्षा दी है। ये सुमेरु के एक शिखर पर निवास करते हैं और महाभारत में इन्हें चित्रशिखण्डी कहा गया है। मरीचि का स्वतन्त्र ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं है किन्तु उनके ज्योतिष विषयक उद्धरण बहुत्र प्राप्त होते है।

लोमश –लोमश रामकथा के वक्ताओं में से एक महर्षि थे। शरीर पर रोएँ अधिक होने से इन्हें यह नाम मिला था। कथा है कि सौ वर्षों तक कमलपुष्पों से इन्होंने शिव जी की पूजा की थी, इसी से इन्हें यह वरदान मिला था कि कल्पांत होने पर इनके शरीर का केवल एक बाल झड़ा करेगा। ये सदा तीर्थाटन किया करते थे और बड़े धर्मात्मा

थे। तीर्थाटन के समय युधिष्ठिर ने इनसे अनेक आख्यान सुने थे। इन्होंने दुर्दम राजा को देवी भागवत की कथा पाँच बार सुनाई थी जिससे रवत नामक पुत्र की प्राप्ति हुई थी। इन्होंने नर्मदा स्नान का निर्देश कर पिशाचयोनि में प्रविष्ट गंधर्व कन्याओं आदि का उद्धार किया था। इनके लिखे ये दो ग्रंथ बताए जाते हैं – लोमशसंहिता तथा लोमशशिक्षा। इनके नाम पर एक लोमाश रामायण भी प्राप्त है। रोमक सिद्धान्त को कुछ लोग लोमश सिद्धान्त मानते हैं। यह पंचसिद्धान्तिका के पाँच सिद्धान्तों से एक है। इसके अतिरिक्त इनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

पौलिश –पंचसिद्धान्तिका में यह सिद्धान्त समाहित है। पञ्चसिद्धान्तिका में पुलिशसिद्धान्तसम्बन्धी अन्य भी बहुत–सी बात है। प्रथमाध्याय की १०वी आर्या में कहा है कि रोमकसिद्धान्त का अहर्गण पोलिश अहर्गण के आसपास होता है। पञ्चसिद्धान्तिका की तीसरी आर्या से मालूम होता है कि लाटदेव ने पौलिशसिद्धान्त की व्याख्या की है। शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त में तीन–चार जगह पुलिशसिद्धान्त का उल्लेख है। अतः शाकल्य के समय पुलिशसिद्धान्त उपलब्ध था। ब्रह्मसिद्धान्त की पृथूदकटीका (शके ६००) के प्रथमाध्याय की टीका में एक जगह लिखा है **'देशान्तररेखाश्च पोलिशे पठ्यते'।** इससे विदित होता है कि उस समय कोई आर्याबद्ध पुलिशसिद्धान्त उपलब्ध था। वर्तमान में पृथक्तया पौलिश सिद्धान्त प्राप्त नहीं होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह पुलस्त्य ऋषि द्वारा विरचित है।

कश्यप –कश्यप ऋषि प्राचीन वैदिक ऋषियों में प्रमुख ऋषि हैं जिनका उल्लेख एक बार ऋग्वेद में हुआ है। अन्य संहिताओं में भी यह नाम बहुप्रयुक्त है। इन्हें सर्वदा धार्मिक एंव रहस्यात्मक चरित्र वाला बतलाया गया है और अति प्राचीन कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के उन्होंने विश्वकर्मभौवन नामक राजा का अभिषेक कराया था। ऐतरेय ब्राह्मणों ने कश्यपों का सम्बन्ध जनमेजय से बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति को कश्यप कहा गया हैः

स यत्कूर्मो नाम। प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसृजत् अकरोत् तद् यदकरोत् तस्मात् कूर्मः कश्यपो वै कूर्म्स्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः कश्यपः।

महाभारत एवं पुराणों में असुरों की उत्पत्ति एवं वंशावली के वर्णन में कहा गया है की ब्रह्मा के सात मानस पुत्रों में से एक 'मरीचि' थे जिन्होंने अपनी इच्छा से कश्यप नामक प्रजापति पुत्र को उत्पन्न किया। कश्यप ने दक्ष प्रजापति की 17 पुत्रियों से विवाह किया। ज्योतिष शास्त्र के मुहूर्त व संहिता ग्रन्थ की टीकाओं में विभिन्न स्थलों पर कश्यप ऋषि के वचनों के प्रमाण प्राप्त होते है। उसी प्रकार वास्तुशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में भी कश्यप ऋषि के वचन उद्धृत हैं।

अंगिरा –पुराणों में बताया गया है कि महर्षि अंगिरा ब्रह्मा जी के मानस पुत्र हैं तथा ये गुणों में ब्रह्मा जी के ही समान हैं। इन्हें प्रजापति भी कहा गया है और सप्तर्षियों में वसिष्ठ, विश्वामित्र तथा मरीचि आदि के साथ इनका भी परिगणन हुआ है। इनके दिव्य अध्यात्मज्ञान, योगबल, तप–साधना एवं मन्त्रशक्ति की विशेष प्रतिष्ठा है। इनकी पत्नी दक्ष प्रजापति की पुत्री स्मृति (मतान्तर से श्रद्धा) थीं, जिनसे इनके वंश का विस्तार हुआ। सम्पूर्ण ऋग्वेद में महर्षि अंगिरा तथा उनके वंशधरों तथा शिष्य–प्रशिष्यों का जितना उल्लेख है, उतना अन्य किसी ऋषि के सम्बन्ध में नहीं हैं। विद्वानों का यह अभिमत है कि महर्षि अंगिरा से सम्बन्धित वेश और गोत्रकार ऋषि ऋग्वेद के नवम मण्डल के द्रष्टा हैं। नवम मण्डल के साथ ही ये अंगिरस ऋषि प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि अनेक मण्डलों के तथा कतिपय सूक्तों के द्रष्टा ऋषि हैं। जिनमें से महर्षि कुत्स, हिरण्यस्तूप, सप्तगु, नृमेध, शंकपूत, प्रियमेध, सिन्धुसित, वीतहव्य, अभीवर्त,

अंगिरस, संवर्त तथा हविर्धान आदि मुख्य हैं। इनका उल्लेख प्रवर्तक के रूप में तो है किन्तु कृतियों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

च्यवन – च्यवन ऋषि महान् भृगु ऋषि के पुत्र थे। इनकी माता का नाम 'पुलोमा' था। ऋषि च्यवन को महान् ऋषियों की श्रेणी में रखा जाता है। इनके विचारों एवं सिद्धांतों द्वारा ज्योतिष में अनेक महत्वपूर्ण बातों का आगमन हुआ। इस कारण ये ज्योतिष के आचार्य रूप में प्रसिद्ध हुए। इनके द्वारा रचित ग्रंथों से ज्योतिष तथा जीवन के सही मार्गदर्शन का बोध हुआ। महर्षि च्यवन ने जड़ी–बुटियों से 'च्यवनप्राश' नामक एक औषधि बनाकर उसका सेवन किया तथा अपनी वृद्धावस्था से पुनः युवा बन गए थे। महाभारत के अनुसार, उनमें इतनी शक्ति थी कि वे इन्द्र के वज्र को भी पीछे धकेल सकते थे। वे अत्यन्त तपस्वी थे। इनका भी उल्लेख प्रवर्तक के रूप में तो है किन्तु कृतियों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अध्यापन, वेध और अन्य प्रकार के प्रयोग में दक्षता होने के कारण ये आचार्य प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हुए होंगे।

यवन –यवन शब्द का उल्लेख पुराणों में चन्द्र वंश वर्णन के सन्दर्भ में इस प्रकार से आता है –चंद्रवंश के प्रथम राजा का नाम भी सोम माना जाता है जिसका प्रयाग पर शासन था। अत्रि से चंद्रमा, चंद्रमा से बुध, बुध से पुरुरवा, पुरुरवा से आयु, आयु से नहुष, नहुष से यति, ययाति, संयाति, आयति, वियाति और कृति नामक छः महाबल–विक्रमशाली पुत्र हुए। नहुष के बड़े पुत्र यति थे, जो संन्यासी हो गए इसलिए उनके दुसरे पुत्र ययाति राजा हुए। ययाति के पुत्रों से ही समस्त वंश चले। ययाति के 5 पुत्र थे। देवयानी से यदु और तुर्वसु तथा शर्मिष्ठा से द्रुह्यु, अनु एवं पुरु हुए। यदु से यादव, **तुर्वसु से यवन**, द्रहयु से भोज, अनु से मलेच्छ और पुरु से पौरव वंश की स्थापना हुई। ययाति के बाद इन पांचों ने संपूर्ण धरती पर राज किया और अपने कुल का दूर–दूर तक विस्तार किया।

महाभारत काल में काल यवन का नाम उल्लिखित है। वह जरासंध का मित्र था। यह जन्म से ब्राह्मण लेकिन कर्म से असुर था और अरब के पास यवन देश में रहता था। पुराणों में इसे म्लेच्छों का प्रमुख कहा गया है। कालयवन ऋषि शेशिरायण का पुत्र था। गर्ग गोत्र के ऋषि शेशिरायण त्रिगत राज्य के कुलगुरु थे। श्री कृष्ण ने कालयवन को मारने के लिए राजा मुचुकंद का सहारा लिया था।

महाभारत युद्ध में यवन कौरवों के साथ थे। इससे पूर्व दिग्विजय के समय नकुल और सहदेव ने इन्हें पराजित किया था।आचार्य वराहमिहिर ने भी यवनों को म्लेच्छ कहा है और इनको ज्योतिष शास्त्र की अच्छी जानकारी होने का वर्णन किया है –

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।

यवन जातक, वृद्धयवन जातक आदि ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है। हो सकता है ये ग्रन्थ इसी परम्परा के रहे हों।

एक अन्य मत है कि यवन विदेशी थे। यवन एक जाति, जो गांधार देश की सीमा पर रहती थी। प्राचीन काल में यूनान में रहने वाले लोगों के लिए भी 'यवन' शब्द का प्रयोग होता था। ग्रीक लोगों को फारसी में यौन कहा जाता था। मान्यता है कि श्यवनश शब्द इसी 'यौन' का रूपांतर है।

शौनक –शौनक ऋषि भृगुवंशी शुनक ऋषि के पुत्र थे। ये प्रसिद्ध वैदिक आचार्य थे। शतपथ ब्राह्मण के निर्देशानुसार इनका पूरा नाम इंद्रोतदैवाय शौनक था जिन्होंने राजा जनमेजय का अश्वमेध यज्ञ कराया था। शौनक एक संस्कृत वैयाकरण तथा ऋग्वेद प्रतिशाख्य, बृहद्देवता, चरणव्यूह तथा ऋग्वेद की छः अनुक्रमणिकाओं के रचयिता ऋषि

हैं। वे कात्यायन और अश्वलायन के के गुरु माने जाते हैं। उन्होने ऋग्वेद की बश्कला और शाकला शाखाओं का एकीकरण किया। विष्णुपुराण के अनुसार शौनक गृतसमद के पुत्र थे। प्रसिद्ध ऋषि तो हैं किन्तु इनकी ज्योतिषशास्त्रीय कृति नहीं मिलती है।

ऐसा लगता है कि शौनक की भी प्रसिद्धि कश्यप, अंगिरा एवं च्यवन की तरह अध्यापन की विशिष्टता, शिष्यपरम्परा, वेध और अन्य ज्योतिषीय प्रयोग की दक्षता के लिए ही रही है। वैदिक आचार्य और ऋषि शौनक ने गुरु–शिष्य परंपरा व संस्कारों को इतना फैलाया कि उन्हें दस हजार शिष्यों वाले गुरुकुल का कुलपति होने का गौरव मिला था। शिष्यों की यह तादाद कई आधुनिक विश्वविद्यालयों की तुलना में भी कहीं ज्यादा थी

4.3 ज्योतिष शास्त्रीय आचार्य परम्परा

वैदिक काल –वैदिक काल में अन्य शास्त्रों की तरह ज्योतिष शास्त्र की भी स्थिति थी। विभिन्न वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, स्मृतियों आदि में प्रसंगवश ज्योतिष शास्त्र के सभी स्कन्धों के विषयों के उल्लेख मिलते हैं। वैदिक काल में ज्योतिष सम्बन्धी अनेक विषयों का स्पष्ट रूप से प्रणयन हो चुका था, जैसे –विश्वोत्पत्ति, पूर्णिमान्त और अमान्त मास, विश्वसंस्था, दिवस, पृथ्वी का स्वरूप, अन्तरिक्ष और द्यौ, तिथि, ऋतुओं का कारण सूर्य का होना, चन्द्र–कला, चन्द्र प्रकाश, कल्प, युग, चन्द्र–सूर्य–गति, पञ्च संवत्सरात्मक युग, वार, दिनमान, विषुव, सावन, चान्द्र, सौरमान, पन्द्रह मुहूर्त, अयन, नक्षत्र, ग्रह, मास, उल्का, धूमकेतु, द्वादश मासों के मध्वादि चौत्रादि नाम, शुभ काल, सौर मास, वर्ष का आरम्भ इत्यादि।

वेदांग काल – इस समय वेदांग ज्योतिष का प्रचार–प्रसार था। जिसके रचयिता महात्मा लगध माने जाते है। इस समय मुख्य रूप से काल गणना के लिये ज्योतिष शास्त्र का उपयोग होता था। स्वयं आचार्य लगध ने कहा

वेदास्तु यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्व्या विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्।।

प्रतीत होता है कि इस समय अध्ययन अध्यापन की परम्परा अधिक सुदृढ़ थी। लेखन पर बहुत ध्यान नहीं दिया गया। वेदांग ज्योतिष भी वैदिकों को पाठ करने में सुविधा की दृष्टि से अत्यन्त संक्षेप में लिखा गया, ताकि वेदपाठी आचार्य वेद के साथ वेदांग का भी पाठ कर सकें। उस समय इसके अतिरिक्त अन्य रचनायें अवश्य रही होंगी किन्तु आज क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं है।

सिद्धान्त काल –सिद्धान्त काल में अनेक विशिष्ट आचार्य हुए, जिन्होंने ज्योतिष शास्त्र के विभिन्न स्कन्धों में या कुछ एक स्कन्ध में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किए। कुछ आचार्यों की कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि जिनकी कृतियाँ उपलब्ध हैं सिर्फ उतने ही आचार्य उस समय हुए। अधिकांश विद्वानों की तो अध्ययन– अध्यापन की ही परम्परा रही है। सम्भवतः कुछ ही लोग लेखन परम्परा में अधिक रूचि रखते थे। अध्ययन अध्यापन की परम्परा में असंख्य आचार्य रहे होंगे जिनका नाम इतिहास में देखने को नहीं मिलता है। आज भी अनेक कृतियां पाण्डुलिपियों के रूप में देश विदेश में विद्यमान हैं जिनका अभी भी अध्ययन व प्रकाशन होना शेष है। जिन आचार्यों की कृतियाँ उपलब्ध हैं, प्रकाशित है अथवा इतिहास में उल्लेख है, उनमें प्रमुख हैं –

1. आर्यभट्ट ई.स. ४७६ ।

2. लल्ल ४८६ ई.
3. वराहमिहिर ५०५ ई.
4. कल्याणवर्मा ५७८ ई.
5. ब्रह्मगुप्त ५६८
6. मुजाल ई. ६६२
7. वित्तेश्वर ८१६ ई.
8. महावीर ८५३ ई.
9. मुञ्जाल ६३५ ई.
10. द्वितीय आर्यभट्ट ६५३
11. उत्पल भट्टोत्पल ई. ६६६ ई. शक ८८८
12. विजयनन्दि ६६६ ई.
13. बलभद्र ६६६ ई.
14. श्रीधराचार्य ६६१ ई. शक ६१३
15. महेश्वर १०१८ ई.
16. श्रीपति १०३६ ई.
17. पृथुदक्स्वामी १०४० ई.
18. भानुभट्ट १०४० ई.
19. भोजराज १०४२ ई.
20. राज्यमृगांक १०४२ ई.
21. बल्लालसेन १०६० ई.
22. शतानन्द १०६१ ई.
23. ब्रह्मदेव १०६२ ई.
24. भास्कर १११४ ई.
25. वरूण ११५० ई.
26. अनन्तदेव १२२२ ई.
27. केशवार्क १२४२ ई. (शक ११६४)
28. कालिदास १२४२ ई. (शक ११६४)
29. माधव १२६३ ई.
30. महादेव १२७८ ई.
31. महेन्द्रसूरि १३२० ई.
32. महादेव द्वितीय १३५७ ई. (शक १२७६)
33. मकरन्द १४३८ ई. शक १३६०
34. केशव १४५६ ई.
35. लक्ष्मीदास १५०० ई. शक १४२२
36. ज्ञानराज १५०३ ई.
37. गणेश १५०७ ई.
38. अनन्तदैवज्ञ १५२५ ई.

39. अनन्तदैवज्ञ द्वितीय १५३७ ई.
40. सूर्य १५४१ ई.
41. ढुण्डिराज १५४१ ई.
42. विष्णुदैवज्ञ १५६६ ई.
43. कृष्णदैवज्ञ १५६५ ई.
44. नीलकण्ठ १५५७ ई.
45. रघुनाथ शर्मा १५६५ ई.
46. रामदैवज्ञ (रामाचार्य) १५६५ ई. शक १४८७
47. गोविन्द दैवज्ञ १५६६ ई. शक १४६१
48. मल्लारि १५७१ ई. शक १४६३
49. नारायण १५७१ ई. शक १४६३
50. रंगनाथ १५७३ ई. शक १४६५
51. गणेश १५७८ ई. शक १५००
52. विश्वनाथ १५७८ ई. शक १५००
53. नृसिंहदैवज्ञ १५८६ ई. शक १५०८
54. विट्ठल दीक्षित १५८७ ई. शक १५०६
55. नारायण १५८८ ई. शक १५१०
56. शिवदैवज्ञ १५६१ ई. शक १५१३
57. बलभद्र मिश्र १५६२ ई. शक १५१४
58. सोमदैवज्ञ १६०२ ई. शक १५२४
59. मुनीश्वर १६०३ ई. शक १५२५
60. दिवाकर १६०६ ई. शक १५२८
61. कमलाकर १६१६ ई. शक १५३८
62. नित्यानन्द १६३६ ई. शक १५६१ ६४
63. रंगनाथ १६४० ई. शक १५६२
64. जगन्नाथ सम्राट १६५२ ई. शक १५७४
65. जयसिंह १६६३ ई.
66. दादाभट्ट १७१६ ई.
67. शंकर १७२६ ई. शक १६४८
68. शिवलाल पाठक १७३४ ई. शक १६५६
69. गंगाधर १७३४ ई. शक १६५६
70. चिन्तामणि दीक्षित १७३६ ई. शक १६५८
71. परमानन्द पाठक १७४८ ई. शक १६७०
72. लक्ष्मीपति १७४८ ई. शक १६७०
73. बबुआ ज्योतिषी १७५६ ई. शक १६७८
74. मथुरानाथ शुक्ल १७५८ ई. शक १६८०
75. परमसुखोपाध्याय १७६८ ई. शक १६६०

76. बालकृष्ण ज्योतिषी । १७७० ई. शक १६६२
77. मणिराम १७७४ ई. शक १६६६
78. कृष्णदेव १७७५ ई. शक १६६७
79. शिवदैवज्ञ १७७८ ई. शक १७००
80. भुला १७८१ ई. शक १७०३
81. गोविन्दाचारी १७८४ ई. शक १७१६
82. दुर्गाशंकर पाठक १७८७ ई. शक १७०६
83. जयराम ज्योतिषी १७६५ ई. शक १७१७
84. सेवाराम शर्मा १७६५ ई. शक १७१७

आधुनिक काल –

आधुनिक काल में ज्योतिष शास्त्र के अनेक विशिष्ट आचार्य हुए। अध्ययन–अध्यापन की दृष्टि से परम्परा अत्यन्त सुदृढ़ रही। आचार्यों ने अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे और पूर्ववर्ती ग्रन्थों की टीकाएँ लिखी। इन ग्रन्थों और टीकाओं से प्रतीत होता है कि वे इस शास्त्र के प्रौढ़ विद्वान रहे होंगे। कुछ मूलग्रन्थ आज भी विश्व प्रसिद्ध है। अध्ययन अध्यापन की परम्परा में जिन आचार्यों ने योगदान किया उनका नामोल्लेख सम्भव नहीं हो पा रहा है क्योंकि लिखित या मौखिक साक्ष्य नहीं मिल पा रहा है। फिर भी परम्परा से जितने विद्वानों का ज्ञान हो पाया है, जिनका की उल्लेख ज्योतिष शास्त्र के विविध ऐतिहासिक ग्रन्थों में उल्लेख है। जिनकी टीका, टिप्पणी या मूलग्रन्थ आदि उपलब्ध हैं या इतिहास में प्रामाणिक उद्धरण प्राप्त है या प्रसंगवश नाम आए है और लेखक या सम्पादक की दृष्टि वहाँ तक पहुँच पायी है, उनका नामोल्लेख करने का यहाँ प्रयास किया गया है–

1. लज्जाशंकर शर्मा १८०४ ई. शक १७२६
2. नन्दलाल शर्मा १८०४ ई. शक १७२६
3. राघव १८१० ई. शक १७३२
4. शिव १८१५ ई. शक १७३७
5. देवकृष्ण शर्मा १८१८ ई. शक १७४०
6. नृसिंहदेव शास्त्री या बापूदेव शास्त्री १८२१ ई. शक १७४०
7. नीलाम्बर शर्मा १८२३ ई. शक १७४५
8. केरो लक्ष्मण १८२४ ई. शक १७४६
9. विशाजी रघुनाथ लेले १८२७ ई. शक १७४६
10. रघुनाथ आचार्य १८२८ ई. शक १७५०
11. गोविन्द देव शास्त्री १८३४ ई. शक १७५६
12. कृष्णशास्त्री गोडबोले १८५३ ई. शक १७७५
13. वेंकटेश बापूजी केतकर १८५३ ई. शक १७७५
14. बालगंगाधर तिलक १८५६ ई. शक १७७८
15. विनायक पाण्डुरंग खाना पुरकर १८५८ ई. शक १७८०
16. सुधाकर द्विवेदी १८६० ई. शक १७८२

17. दिनकर १८८१ ई. शक १८०३
18. यज्ञेश्वर (बाबा जोशी राडे) १७७८ ई. शक १७०० के आसपास
19. सामन्त चन्द्रशेखर १८६६ ई.
20. नीलकण्ठ
21. आचार्य पद्माकर द्विवेदी
22. आचार्य बलदेव पाठक
23. आचार्य अनुप मिश्र
24. आचार्य डी. अर्किसोमयाजि
25. आचार्य गंगाधर मिश्र
26. आचार्य चन्द्रशेखर झा
27. आचार्य गेंदालाल चौधरी
28. आचार्य सीताराम झा
29. आचार्य बलदेव मिश्र
30. आचार्य मुरलीधर मिश्र
31. आचार्य अच्युतानन्द झा
32. आचार्य नीलाम्बर झा

वर्तमान काल –वर्तमान काल में ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन अध्यापन एवं शोध देश के विभिन्न संस्कृत विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में संचालित हैं। जिसमें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, श्री लालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय(तिरूपति), उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, कविकुलगुरू कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय, कामेश्वर सिहं दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, जगद्गुरू रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय आदि प्रमुख हैं। इस समय ज्योतिष शास्त्र के तीनों स्कन्धों में अच्छे विद्वान हुए हैं। सिद्धान्त और संहिता स्कन्ध में प्रायोगिक रूप से कार्य हो रहे है। अध्ययन –अध्यापन या लेखन में जिनका योगदान रहा है और इस शास्त्र के विकास में निरन्तर लगे हुए हैं। उनमें प्रमुख हैं –

1. आचार्य अवध बिहारी त्रिपाठी 2. आचार्य संकटा प्रसाद उपाध्याय 3. आचार्य कपिलेश्वर चौधरी 4. आचार्य देवचन्द्र झा 5. आचार्य केदार दत्त जोशी 6. आचार्य राजमोहन उपाध्याय 7. आचार्य सुवंश झा 8. आचार्य गणेश दत्त पाठक 9. आचार्य गणपति देव शास्त्री 10. आचार्य विन्ध्येश्वरी प्रसाद पाण्डेय 11. आचार्य मुनीलाल झा 12. आचार्य गणेश ज्योतिषी 13. आचार्य रामयत्न ओझा 14. आचार्य अयोध्या नाथ शर्मा 15. आचार्य रामव्यास पाण्डेय 16. आचार्य मीठालाल ओझा 17. आचार्य मुरारि लाल शर्मा 18. आचार्य पिडपर्ति सुब्रह्मण्यम शास्त्री 19. आचार्य पिडपति कृष्णमूर्ति शास्त्री 20. आचार्य हनुमान शास्त्री 21. आचार्य मधुरकृष्णमूर्ति शास्त्री 22. आचार्य श्रीचन्द्र पाण्डेय 23. आचार्य श्रीव्रजकिशोर झा 24. आचार्य कल्याणदत्त शर्मा 25. आचार्य कृष्णचन्द्र द्विवेदी 26. आचार्य रामचन्द्र पाण्डेय 27. आचार्य रामचन्द्र झा 28. आचार्य शुकदेव चतुर्वेदी 29. आचार्य शिवाकान्त झा 30. आचार्य उमाशंकर शुक्ल 31. आचार्य ओंकारनाथ चतुर्वेदी 32. आचार्य ह्रषीकेश उपाध्याय 33. आचार्य हीरालाल मिश्र 34. आचार्य रामपाल शर्मा 35. आचार्य नागेश उपाध्याय 36. आचार्य रामभरोसे मिश्र 37. आचार्य माताभीख शुक्ल 38. आचार्य दुर्गादत्त मिश्र 39. आचार्य राममूर्ति शुक्ल और 40.

आचार्य के.बी.शर्मा 41. आचार्य सच्चिदानन्द मिश्र 42. आचार्य देवी प्रसाद त्रिपाठी 43. आचार्य के. रामसुब्रह्मण्यम् इनके अतिरिक्त भी ज्योतिष शास्त्र के अनेकों विद्वान् शास्त्र की रक्षा में अपना जीवन निरन्तर समर्पित किया हैं, और कर रहे हैं। सभी का नाम यहाँ उल्लिखित करना असंभव है। और भी अनेक आचार्य निरन्तर आधुनिक विधा को साथ में लेते हुए इस शास्त्र के मूल स्वरूप के विकास, प्रचार व प्रसार में निरन्तर लगे हुए है।

4.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने वैदिक काल से आरम्भ करते हुए वर्तमान काल तक ज्योतिष शास्त्र के प्रवर्तकों, आचार्यों, विद्वानों के बारे में जाना। उनमें में विशेष रूप से 18 प्रवर्त्तकों का परिचय विस्तार से जाना। प्रवर्तक वे हैं जिन्होने इस शास्त्र के सभी मूलभूत सिद्धान्तों का निर्वचन किया हैं। ज्योतिष शास्त्र का मूल स्वरूप प्रवर्तकों के द्वारा ही प्रदत्त है। और उनमें भी अलग अलग आचार्यों ने विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। बाद के आचार्यों ने उन्हीं सिद्धान्तों को और अधिक परिष्कृत किया। समय के साथ उनमें परिष्कार किये और अनेक वर्षों तक विभिन्न प्रयोगों के आधार पर नवीन निष्कर्ष प्रस्तुत किये। परन्तु मूल नियम आज भी वैसे ही है। आज भी मास १२ हैं। तिथियां ३० हैं। दिन में २४ होरायें हैं, २७ मुख्य नक्षत्र हैं, पूर्व क्षितिज में उदय होने वाली राशि ही जन्म लग्न है, एक वृत में ३६० अंश है, ६ अंक है कर्मफल भोग के वहीं सिद्धान्त हैं आदि उन प्रवर्तक ऋषियों की देन हैं जो कभी परिवर्तित नहीं हो सकती। क्योंकि यही सार्वभौम सत्य है जो प्रकृति ने स्वयं उन प्रवर्तक आचार्यों को प्रदान किया है। आपने जाना कि वेद किसी शास्त्र विशेष का ग्रन्थ नहीं है, यह सभी शास्त्रों का मूल है अतः इसमें सभी शास्त्रों का दिग्दर्शन अवश्य होता है। ज्योतिष तो वेदांग ही है। इसलिए इस का वर्णन स्वाभाविक है। इस प्रकार इस शास्त्र का प्रवर्तक तो वेद है। कालक्रम में इस शास्त्र के प्रवर्तन का श्रेय उन्हें मिला है और इतिहास में उल्लेख भी उनमें सर्वप्रमुख है। प्रवर्तक का अर्थ व आचार्य का भी अर्थ इस इकाई के अध्ययन से सम्यक् रूप से आपको ज्ञात हुआ होगा।

4.5 पारिभाषिक शब्दावली

प्रवर्तक – प्रवर्तक का अर्थ है, वह विद्वान, शोधकर्ता या आचार्य जिसने किसी भी विषय या मूल सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रतिपादन किया हो।

आचार्य – जिसने विभिन्न शास्त्रों में महारथ प्राप्त की हो, अपने विषय का सम्यक् रूप से अध्ययन किया हो और उस ज्ञान को आत्मसात भी किया हो, उसका स्वयं के जीवन में आचरण किया हो, निरन्तर अभ्यास किया हो और उस ज्ञान को शिष्यों को उसी रूप में प्रदान भी किया हो वह आचार्य कहलाता है।

सिद्धान्त – सिद्धः अन्ते यस्य सः सिद्धान्तः। जो विभिन्न प्रयोगों व परिणामों के बाद अन्त में सभी के लिये सत्य सिद्ध हो, वह सिद्धान्त है।

वेद – सभी विद्याओं का मूल वेद है। मनुष्य को इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार करने के लिये उपयुक्त ज्ञान एवं विधि ही वेद है।

वेदांग – वेद के अंग को वेदांग कहा जाता है।

स्कन्ध – विभाग।

4.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क) भारतीय ज्योतिष –श्री शंकरबालकृष्ण दीक्षित

ख) भारतीय ज्योतिष –नेमिचन्द्र शास्त्री।

ग) विष्णुधर्मोत्तर पुराण

घ) नारद संहिता

ड.) भारतीय फलित ज्योतिष – राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली।

4.7 सहायक पाठ्यसामग्री

ज्योतिष शास्त्र का इतिहास – लोकमणि दहाल

भारतीय ज्योतिष – शंकरबालकृष्णदीक्षित/नेमिचन्द शास्त्री

सुलभ ज्योतिष ज्ञान – पं. वासुदेव सदाशिव खानखोजे

4.8 बोध प्रश्न

1. ज्योतिष शास्त्र के आद्य प्रवर्तकों का विस्तृत वर्णन कीजिये।
2. प्रवर्तक एवं आचार्य की परिभाषा लिखिये।
3. सिद्धान्त काल के ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख आचार्यों के नाम लिखिये।
4. वर्तमान काल के ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख आचार्यों के नाम लिखिये।

इकाई 5 ज्योतिष शास्त्र की वेदाङ्गता

इकाई की संरचना

5.0 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में ज्योतिष शास्त्र की वेदाङ्गता तथा आचार्य लगध द्वारा रचित वेदाङ्ग ज्योतिष का परिचय प्रदान किया गया है। इसके पूर्व की इकाई में आप ज्योतिष शास्त्र के प्रवर्तकों व आचार्य परम्परा से परिचित हो चुके हैं। मनुष्य को इष्ट की प्राप्ति हो और उसके अनिष्ट का परिहार हो यही वेदों की रचना का मूल उद्देश्य है। और उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये वेद के सभी अंग भी प्रवृत्त हुए हैं। वेद की एक पुरूष के रूप में कल्पना की गई तथा पाणिनीय शिक्षा में उसके छः अंग बताये गये –

छन्दःपादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।

अर्थात् छन्द वेद के पैर है, कल्प हस्त है, ज्योतिष नेत्र है, निरुक्त कान है, शिक्षा नासिका है और व्याकरण मुख है। जिनका सम्यक् रूप से अध्ययन करके मनुष्य ब्रह्मलोक की प्राप्ति कर सकता है।

वेदों का सम्यक् रूप से अवबोध हो इस हेतु वेदाङ्गों का भी अध्ययन आवश्यक है। इसी कारण भगवान पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक में कहा है कि किसी विद्वान् को निष्कारण भी वेद और वेदाङ्गों का अध्ययन करना चाहिये –

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।

ज्योतिष शास्त्र मूलतः वेद का अंग है, अतः इसे वेदाङ्ग भी कहा जाता है। इस इकाई में आप जानेंगे कि क्यों ज्योतिष को वेदाङ्ग माना गया है और उसमें भी सर्वश्रेष्ठ नेत्र

स्थान क्यों प्रदान किया गया है। ज्योतिषशास्त्र का स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध प्रथम ग्रन्थ वेदाङ्ग ज्योतिष महात्मा लगध की रचना है, उसका भी विस्तृत परिचय इस इकाई में प्राप्त करेंगे।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- ज्योतिष की उत्पत्ति सम्बन्धित विषयों को जान जानेंगे।
- ज्योतिषशास्त्र के वैदिक स्वरूप का प्रतिपादन कर सकेंगे।
- वेदों में वर्णित ज्योतिष शास्त्र के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे।
- ज्योतिष शास्त्र की वेदांगता को सिद्ध करने में सक्षम हो सकेंगे।
- वेदाङ्ग ज्योतिष का परिचय प्रदान कर सकेंगे।

5.2 ज्योतिष शास्त्र की वेदाङ्गता

अंग शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से है 'अंग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि।' किसी भी वस्तु के स्वरूप को जिन तत्त्वों, अवयवों या उपकरणों के माध्यम से जाना जाता है, उसे अंग कहते हैं। तो ज्योतिष शास्त्र का वेदाङ्गत्व किस प्रकार है? और इस शास्त्र का प्रयोजन क्या है? इस सन्दर्भ में जानना आवश्यक है क्योंकि किसी भी शास्त्र के अध्ययन से पूर्व उसके प्रयोजन को अवश्य जान लेना चाहिये। जैसा कि कहा गया है –

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते।।

वैदिक काल में यज्ञ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया मानी गई थी और विशेष प्रयोजन हेतु विभिन्न काल में यज्ञ करने का भी निर्दिष्ट किया गया है। सायणाचार्य ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका में ज्योतिष शास्त्र का प्रयोजन समुदिष्ट किया है –**यज्ञकालार्थसिद्धये कालविशेषविधयः श्रूयन्ते। संवत्सरमेतद् व्रतं चरेत्।** (तै–आ–1–32–1) **संवत्सरमुख्यं भूत्वा** (तै–सं– 5–6–5–1) **इत्येवमादयः विधयः। वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत ग्रीष्मे राजन्य आदधीत** (तै–ब्रा–1–1–2–6–7) **इत्याद्या ऋतुविधयः मासि मासि पृष्ठान्युपयान्ति मासि मासि अतिग्राह्य गृह्यन्ते ।** (तै–सं–7–5–15) **इत्याद्या मासविधयः। यं कामयेत् वसीयान्स्याादिति तं पूर्वपक्षे याजयेत्** (तै–सं–2–2–3–1) **इत्याद्या पक्षविधयः। एकाष्टकायां दीक्षेरन् फाल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन्** (तै– सं–7–4–8–1) **इत्याद्यास्तिथिविधयः। प्रातर्जुहोति सायं जुहोति इत्याद्याः प्रातकालविधयः। कृतिकास्वग्निमादधीत्** (तै–ब्रा–1–1–2–1) **इत्याद्याः नक्षत्रविधयः। अतः कालविशेषानवगमयितुं ज्योतिषमुपयुज्यते ।**

प्रत्येक यज्ञ की सिद्धि किसी काल विशेष से संबंधित है। विशेष यज्ञों का सम्पादन काल विशेष में ही किया जाना चाहिये। जिसमें उपरोक्त श्रुति वाक्य प्रमाण है। इन वाक्यों में संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, काल व नक्षत्र विशेष में याग करने का निर्देश किया गया है और उस काल विशेष का ज्ञान करने के लिये ज्योतिष शास्त्र का प्रयोग किया जाता है।

ज्योतिष शास्त्र का प्रयोजन वर्णन करने के अवसर पर लगधाचार्य ने कहा कि वेद हमारे ज्ञान और कर्म के मूल हैं। **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'** तथा च **'यागादिरेव धर्म'** इत्यादि श्रुतिवाक्यों से सिद्ध होता है कि वेद की प्रवृत्ति विशेष रूप से यज्ञ के सम्पादन के लिये ही है और यज्ञ के सम्पादन के लिये कालशुद्धि की अत्यधिक आवश्यकता होती है। यज्ञयागादि कर्म और तप, दान, व्रत, उपवास आदि कोई भी विशिष्ट कार्य शुभ मुहूर्त में ही किये जाने पर फलदायक होता है । ज्योतिष कालबोधक शास्त्र है। वेद प्रतिपादित यज्ञादि कर्म हेतु काल का ज्ञान ज्योतिष शास्त्र के द्वारा ही होता है। अतः शुभाशुभ मुहूर्त के निर्धारण से ज्योतिष शास्त्र वेद को उपकृत करता है। अतः जो ज्योतिष शास्त्र को जानता है वहीं यज्ञ के पूर्ण रूप फल को प्राप्त कर सकता है। जैसा कि आचार्य लगध ने वेदांग ज्योतिष ग्रन्थ में कहा –

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः, कालानुपूर्वाविहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं, यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान्।।

वेदों में यज्ञ के जो महत्व बतलाए गए हैं वे वेदविहित समय में ही करने पर फलीभूत होते हैं अन्यथा वे निष्फल या विपरीत फलदायक हो जाते हैं। श्रुति कहती है –

ते असुरा अयज्ञा अदक्षिणा अनक्षत्रा।
यच्च किंचाकुर्वत तां कृत्यामेवाकुर्वत।

उपयुक्त नक्षत्र एवं उपयुक्त काल के अभाव में किया गया यज्ञ, कृत्या को समर्पित हो जाता है न कि देवताओं को। अतः यज्ञानुरूप काल का चयन यज्ञ से पूर्व आवश्यक होता है।

यज्ञ विधान के शुभाशुभ मुहूर्त के निर्धारण के द्वारा ज्योतिष शास्त्र के अत्यधिक महत्व को स्वीकार करते हुए ज्योतिष मार्तण्ड भास्कराचार्य ने ज्योतिष शास्त्र के वेदाङ्गत्व को स्पष्ट रूप से उद्घोषित किया है। यथा–

वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ताः यज्ञाः प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।
शास्त्रदस्मात् कालबोधो यतः स्यात् वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात्।।

वैदिककाल में काल के गुणधर्म का विवेचन करने के कारण इस शास्त्र को **'कालविधानशास्त्र'** भी कहा गया है। ज्योतिष के बिना कालज्ञान नहीं हो सकता और कालज्ञान के बिना श्रौत–स्मार्तकर्म, गर्भाधान, जातकर्म, यज्ञोपवीत, विवाह, दान, होम, जप आदि संस्कार उषर भूमि में बोए गए बीज के समान निष्फल हो जाते हैं । जैसा कि कहा है –

अतीनानागते काले दानहोमजपादिकम्।
उषरे वपितं बीजं, तद्वद्भवति निष्फलम्।।

तिथि–वार–नक्षत्र–योग–करणादि के ज्ञान के बिना तडाग, वापी, देवालय निर्माण, श्राद्धकर्म, पितृकर्म, व्रतानुष्ठान, गृहप्रवेश, प्रतिष्ठा आदि शुभ कर्म नहीं किये जा सकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ज्योतिष शास्त्र के बिना लौकिक, वैदिक, स्मार्त कोई भी कर्म सफल नहीं हो पाता है। इसी कारण महर्षि नारद ने कहा है –

वेदस्य निर्मलं चक्षुज्योतिः शास्त्रमकल्मषम्।
विनैतदखिलं कर्म श्रौतं स्मार्तं न सिध्यति।।

सभी व्यवहारिक, धार्मिक, सामाजिक कार्य इस शास्त्र के द्वारा ही सुसम्पन्नता को प्राप्त होते हैं। इस शास्त्र की व्यवहार में उपयोगिता व कल्याणकारक महत्त्व को प्रतिपादित

करते हुए आचार्य गर्ग ने कहा कि यह शास्त्र तो परम गति को भी प्रदान करने में सहायक है –

ज्योतिष्चक्रे तु लोकस्य सर्वस्योक्तं शुभाशुभम्।
ज्योतिर्ज्ञानं तु यो वेद स याति परमां गतिम्।।

अतः वैदिक, लौकिक, श्रौतस्मार्त कर्मों के सम्पादन हेतु काल निर्धारण हेतु इस वेदाङ्ग का विशिष्ट महत्त्व है। जिससे ज्योतिष शास्त्र का वेदाङ्गत्व सिद्ध होता है।

ज्योतिष शास्त्र का आरम्भ –

ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति के सन्दर्भ में भारतीय ज्योतिष ग्रन्थ में शंकर बालकृष्ण दीक्षित जी ने अत्यन्त सुन्दर, प्रायोगिक व प्रामाणिक विवेचन किया है। शरद् या हेमन्त ऋतु में रात को घर से बाहर किमी खुली जगह में बैठने पर स्वभावतः आकाश की ओर ध्यान जाता है और चारों ओर सहस्रों तारे चमकते हुए दिखाई देते हैं। उनमें कुछ बहुत छोटे होते हैं और कुछ बड़े । थोड़ा ध्यानपूर्वक देखने पर ज्ञात होने लगता है कि वे स्थिर नहीं है। कुछ एक ओर नीचे से ऊपर जाते रहते हैं और कुछ दूसरी ओर ऊपर से नीचे आते हुए दिखाई देते हैं। देखते–देखते थोड़ी देर में कोई बड़े आकार का और विशेष प्रकाश वाला पिक उग आता है। हम उसकी ओर आश्चर्य पूर्वक देख रहे हैं, इसी बीच में एक ओर पृथ्वी से लगे हुए आकाश भाग में जगमगाता हुआ प्रकाश दिखाई देने लगता है और हमारा चित्त उधर आकृष्ट हो जाता है। वह प्रकाश भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। क्रमशः उस ओर से तारों का प्रकाश कम होने लगता है और थोड़ी देर में चारों ओर से निश्चित लाल चन्द्रबिम्ब दिखाई देने लगता है। उसे देख कर हम बड़ा आनन्द होता है । वह ज्यों–ज्यों ऊपर आता है बहुत से तारा को छिपाते हुए अपना आनन्द–दायक प्रकाश पृथ्वी पर फैलाता जाता है। इस प्रकार जब कि हम आनन्द में मग्न रहते हैं अकस्मात् एक चमक होने के बाद कोई तारा आकाश से टूटना हुआ–सा मालूम होता है। कभी–कभी थोड़े ही समय में ऐसे छोटे बड़े दस–पांच तारे टूटते–से दिखाई देते हैं। यह दृश्य देख कर हम चौंक पड़ते है ।

इस प्रकार के स्वाभाविक चमत्कारों की ओर मनुष्य का ध्यान अपने आप जाता है। उसमें भी पृथ्वी के चमत्कारों की अपेक्षा आकाश के चमत्कार स्वभावतः ही भव्य और चित्ताकर्षक होते हैं, इसलिए उनकी ओर ध्यान अधिक जाता है। जिन मनुष्यों का लक्ष्य किसी विशेष कारण से अनेक प्रापञ्चिक व्यवहारों की ओर कम है उनका ध्यान आकाश की ओर लगने की अधिक सम्भावना है। जान–बूझकर सदा इसकी ओर ध्यान देने वालों को छोड़ दीजिए पर यदि सामान्यतः शेष जन–समूह को देखा जाय तो रात को भेड़ बकरियों के साथ जंगल या किसी खुली जगह में रहने वाले गड़रिये इत्यादिकों को या सबेरे जल्दी उठकर खेती का काम करने वाले किसानों को तथा साधारणतः नक्षत्रचिह्नों से ही दिशा पहचानकर रात को समुद्र में नावें चलाने वाले मल्लाहों को अन्य लोगों की अपेक्षा नक्षत्रों का ज्ञान बहुत अधिक होता है। और लोग भी थोड़ा बहुत जानते ही हैं। ऐसे मनुष्य हमारे देश में कम मिलेंगे जिन्हें आकाश का ज्ञान कुछ भी न हो।

सूर्य और चन्द्रमा प्रतिदिन नियमपूर्वक उगते और अस्त होते है तथा ग्रीष्म, वर्षा इत्यादि ऋतुएं क्रमशः आती है। इन बातों का अत्यन्त परिचय हो जाने के कारण इस समय हमें इनके विषय में विशेष चमत्कार नहीं मालूम हो रहा है, पर जगत् के आरम्भ में उन्होंने मनुष्य को चकित कर दिया होगा और आकाश के तेजों के विचार की ओर अर्थात् ज्योतिष शास्त्र की ओर मनुष्य का ध्यान उसके उत्पत्ति–काल से ही लगा होगा। सूर्य सबेरे उगता है. धीरे–धीरे ऊपर आता है, उसकी किरणे क्रमशः प्रखर होती जाती हैं। कुछ समय में वह आकाश के उच्चतम भाग में आ जाता है और फिर

धीरे–धीरे नीचे जाने लगता है। उसका तेज कम होने लगता है। अन्त में वह अदृश्य हो जाता है। उसके अदृश्य होने के बाद बहुत देर तक अँधेरा रहता है। दूसरे दिन वह फिर प्रायः पहले ही स्थान में उगता है, किसी अप्रस्तुत अत्यन्त भिन्न स्थान में नहीं उगता। यह जो सूर्य उगता है वह पिछले दिन वाला ही प्रति दिन रहता है या नया आता है, यदि वही है तो रात को कहां रहता है? वह आकाश में किसी अकल्पित ऊटपटांग स्थान में क्यों नहीं उगता? उसकी किरणे न्यूनाधिक प्रखर क्यों होती है? वह जहां उगता है और अस्त होता है वहां आकाश तो पृथ्वी से लगा हुआ दिखाई देता है फिर सूर्य उसी में से ऊपर कैसे आता है? पूर्व–पश्चिम भागों में यदि समुद्र हो तो वह समुद्र में से आता है और समुद्र ही में डूबता हुआ दिखाई देता है, तो क्या सचमुच वह समुद्र में डूबता है? इत्यादि बातों में हम आज कोई महत्व नहीं मालूम होता, परन्तु सृष्टि के आरम्भ में उन्होंने मनुष्य को बड़ी उलझन में डाल दिया होगा और किसी बात का ठीक निश्चय होने में बड़ा समय लगा होगा। पीछे का अनुभव भविष्य में उपयोगी सिद्ध होता है और इस प्रकार परम्परया मनुष्य का ज्ञान बढ़ता रहता है। जो बात भविष्य में बिल्कुल सामान्य–सी समझी जाने लगती हैं उनका भी अन्वेषण करके उन्हें सिद्धान्त रूप में रखने में अनेकों वर्ष लग जाने है, तो फिर सृष्टि के आरम्भ में सामान्य विषयों के भी सच्चे तत्वों को जानने में बहुत समय लगा होगा इसे कहना ही क्या है।

ऊपर सूर्य के विषय में जो बात बतलायी गयीं वे कपोल–कल्पित नही हैं। जैनों ने दो मूर्य माने थे। ग्रन्थों में इसके प्रमाण मिलते हैं। सूर्य उगने के पहले समुद्र में डूबा रहता है। इस विषय में ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचा देखिये–

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आगूलहमासूर्यमजभर्तन ।। ऋ.सं. १०।८५।१६

हे देवताओं ! आप लोगों ने समुद्र में डूबे हुए सूर्य को प्रातःकाल उदित होने के लिए ऊपर निकाला।

इसी प्रकार तैत्तिरीय वेद में कहा है––

य उदगान्महतोर्ण वाद्विभ्राजमानः सलिलस्य मध्यात् ।
म मा वृषभो रोहिताक्षः सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुनातु ।।

महान् समुद्र में जल के मध्य से जो देदीप्यमान सूर्य ऊपर आया वह हमें पवित्र करे।

सूर्य प्रातःकाल उगता है। मध्याह्न में अत्यन्त उच्च स्थान में आता है और सायंकाल में अस्त हो जाता है। मानो वह तीन पगों में सम्पूर्ण आकाश पार कर जाता है। इस चमत्कार का वर्णन ऋग्वेदादिकों में बहुत से स्थानों में है। ऐसे वर्णन भी बहुत हैं कि रात को सूर्य अपना तेज अग्नि में स्थापित करता है –

अग्नि वावादित्यः सायं प्रविशति। तस्मादग्निर्दूरान्नक्तं ददृशे ।। तैत्ति. ब्राह्मण २।१२।८

इस मन्त्र में कहा है कि सूर्य रात को अग्नि में प्रवेश करता है। चन्द्रमा की ओर मनुष्य का ध्यान सूर्य की अपेक्षा कुछ अधिक ही लगा होगा। चन्द्रमा का उदय रात्रि में सूर्य की भांति नियमित रूप से नहीं होता। कभी–कभी वह सूर्यास्त के समय उगता है और उस समय पूर्ण दिखाई देता है। इसके बाद क्रमशः देर से उगने लगता है और छोटा दिखाई देने लगता है। तारों में उसका स्थान बहुत शीघ्र परिवर्तित होता रहता है। वह सूर्य के पास आने लगता है और एक दिन बिलकुल अदृश्य हो जाता है। उसके बाद दूसरे, तीसरे दिन सूर्यास्त के बाद तुरन्त ही पश्चिम में दिखाई देने लगता है। परन्तु

उस समय उसकी छोटी–सी कोर मात्र दिखाई देती है और ऐसा मालूम पड़ता है मानो वह नवीन ही उत्पन्न हुआ है। आज भी उस दिन प्रायः चारों वेदों में उपलब्ध यह मन्त्र पढ़कर उसका दर्शन कर वन्दना करते हुए उसे वस्त्र का सूत्र अर्पण करते हैं और उससे प्रार्थना करते हैं कि हमें नवीन वस्त्र और दीर्घायु दे यथा –

नवो नवो भवति जायमानोहां केतुरुषसामेत्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो विदधात्यायन्प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायः ।। ऋ० सं० १०।८५।१९

इसके बाद बढ़ते–बढ़ते वह एक दिन पहले की भांति पूर्ण हो जाता है। उसके इस न्यूनाधिक्य का अर्थात् उसकी कलाओं की क्षय–वृद्धि का हमारे प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों में पर्याप्त वर्णन है। चन्द्रमा की कलाएँ, उसका काला धब्बा, सौम्य दर्शन और आह्लादकारक चन्द्रिका इत्यादि बातें सभी देशों में सर्वदा कवि–कल्पना–सृष्टि का एक प्रधान विषय रही हैं।

चन्द्रमा एक बार पूर्ण होने के लगभग २६.५ दिनों बाद फिर पूर्ण होता है और आगे भी पुनः–पुनः इतने ही दिनों में पूर्ण हुआ करता है। अतः पहले मनुष्य के ध्यान में यह बात आयी होगी कि एक बार सूर्य का उदय होने के बाद पुनः द्वितीय उदय होने तक प्रायः सर्वदा समान काल लगता है। तत्पश्चात् वही काल अर्थात् एक अहोरात्र मनुष्य की काल–गणना का स्वाभाविक परिमाण हुआ होगा। इसी प्रकार चन्द्रमा के विषय में भी उपर्युक्त नियम दिखलाई पड़ने पर, उसके एक बार पूर्ण होने से लेकर दूसरी बार पूर्ण होने तक का समय, मनुष्य की काल–गणना का दूसरा दिन से बड़ा स्वाभाविक परिमाण निश्चित हुआ होगा। बहुत सी भाषाओं में चन्द्रमा का नाम ही काल का भी द्योतक माना हुआ पाया जाता है। वेदों में चन्द्रमा का मास नाम मिलता है। उदाहरणार्थ –

सूर्यमासामिथ उच्चरातः ऋ० सं० १०।६८।१०, अर्थ० सं० २०।१६।१०
सूर्यमासा विचरन्ता दिवि ऋ० सं० १०।६२।१२

इससे स्पष्ट है कि चन्द्रमा का मास नाम उपर्युक्त काल का वाचक है।

दिन और मास के मानों का निश्चय हो जाने पर मनुष्य को कुछ दिनों बाद ज्ञात हआ होगा कि ग्रीष्म, वर्षा इत्यादि ऋतुएं एक नियमित समय के भीतर अर्थात् चन्द्रमा द्वारा ज्ञात होने वाले मासात्मक काल की बारह संख्याएं बीतने पर, पुनः पुनः आया करती हैं। वेदों में इस काल के लिए शरद, हेमन्त इत्यादि ऋतुओं के ही नामों का प्रयोग किया गया है। ऋकसंहिता में वर्ष अर्थ में शरद् शब्द बीस से अधिक बार और हिम शब्द दस में अधिक बार आया है। अन्य वेदभागों में भी ये शब्द अनेकों बार आये हैं। वर्ष शब्द भी मूल में ऋतुविशेष का ही वाचक है।

शतञ्जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताँच्छतमवसन्तान् ।। ऋ० सं० १०।१६ ।१४, अथ० सं० २० ।६६।६इस ऋचा में वर्ष अर्थ में शरद, हेमन्त और वसन्त तीनों शब्द साथ आये है। वर्ष अर्थ में संवत्सर शब्द भी अनेकों जगह मिलता है।.इस प्रकार दिवस और मास से बड़ा कालगणना का तीसरा स्वाभाविक परिमाण वर्ष हुआ।

मनुष्य–व्यवहार के साधनीभूत तथा कालगणना के स्वाभाविक मान दिन, मास और वर्ष आकाशीय चमत्कारों पर ही अवलम्बित है। खेती के लिए ऋतुओं का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है और ऋतुज्ञान सूर्य पर अवलम्बित है। वर्षा भी सूर्य के ही कारण होती है। ज्वार–भाटे का कारण चन्द्रमा है। मालूम होता है ईश्वर अपने क्षोभों को भी आकाशस्थ तेजों की ही कुछ विशिष्ट स्थितियों द्वारा उनके आने के पूर्व सूचित करता है। इन सब हेतुओं से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य का ध्यान उसके उत्पत्तिकाल से

ही ज्योतिष शास्त्र में लगा होगा और प्राचीनकाल से ही उसकी ये धारणाएं होंगी कि चन्द्रमा और सूर्य की अमुक स्थिति में खेती इत्यादि के विशेष कार्य करने पड़ते हैं और उसमें भी अमुक विशिष्ट स्थिति में करने में वे अधिक लाभप्रद होते है। उदाहरणार्थ चन्द्रमा की अमुक स्थिति में बीज बोया जाय तो उपज अच्छी होगी और उसके अमुक नक्षत्र में रहने पर बोने मे नष्ट हो जायगी। सूर्य जब दक्षिण में उत्तर या उत्तर में दक्षिण की ओर मुड़ता है उस समय अर्थात् अयन–संक्रान्ति के दिन अमुक–अमुक कार्य हिताहितप्रद होंगे। विवाहादि कार्य अमुक समय करने में मंगलप्रद होगा। अमुक कर्म करने से ग्रहण, उल्कापात और केतु इत्यादिकों के दर्शनजन्य अरिष्ट शान्त होंगे। आकाश में दो ग्रह आमने–सामने आ जाने पर उनका युद्ध समझकर, उनकी न्यूनाधिक तेजस्विता द्वारा जय–पराजय मानकर पृथ्वी के राजाओं की जय–पराजय का निश्चय करते रहे होंगे। इसी प्रकार कुछ समय बाद उनकी यह कल्पना होना भी स्वाभाविक है कि आकाश में स्थित ज्योतियों का सम्बन्ध यदि सम्पूर्ण जगत के व्यवहार और शुभाशुभ से है तो प्रत्येक मनुष्य की जन्मकालीन घटनाओं में भी उनका सम्बन्ध अवश्य होगा और मनुष्य के जन्मकाल की तथा अन्य समयों की सूर्य–चन्द्र ग्रहों की स्थिति द्वारा उसके जीवन में होने वाले सुखदुःख का निश्चय किया जा सकेगा। इस प्रकार से ज्योतिष शास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त निर्मित हुए होंगे। उसके निर्देश वैदिक संहिताओं का अध्ययन करने से प्राप्त होते हैं।

अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में ही मनुष्य को समस्त आकाशीय पिण्डों की पारस्परिक भिन्नता ज्ञात हो गई थी। भूमि पर स्थित प्राणी आकाश में प्रकाशमान पिण्डों को एक समान ही देखता है किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। समस्त प्रकाशमान पिण्डों में कुछ स्वयं प्रकाशित हैं तथा कुछ सूर्य से प्रकाशित हैं। स्वयं प्रकाशमान पिण्ड तारा एवं नक्षत्र वाचक हैं तथा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित पिण्ड ग्रह एवं उपग्रह संज्ञक हैं। तारों में भी चन्द्र पथ या आभासिक सौर पथ में आने वाले, तारे नक्षत्र संज्ञक है तथा उनसे भिन्न स्थिति में रहने वाले तारे तारा संज्ञक हैं। वेदों में तारक मण्डल या तारा को ऋक्ष शब्द से व्यवहृत किया गया है। **"अमीय ऋक्षा निहिता स उच्चा"** सदैव उत्तर दिशा में में दिखाई देने वाले सात तारों के समूह को ऋक्ष मण्डल कहा गया है जिसे हम सप्तर्षि मण्डल कहते हैं। ऋक्ष शब्द का अर्थ 'भालू होता है। सम्भवतः ऋक्ष शब्द का भालू अर्थ लेकर ही पाश्चात्यों ने बृहद सप्तर्षि मण्डल को Great bear तथा लघु सप्तर्षि मण्डल को Small bear नाम से सम्बोधित किया है। वर्तमान समय में भी ज्योतिष शास्त्र में ऋक्ष शब्द नक्षत्रों के लिए प्रयुक्त हो रहा है। लघु सप्तर्षि मण्डल को पुराणों में शिंशुमार कहा गया है। शिंशुमार के पुच्छ में स्थित तारा ध्रुव संज्ञक है। किन्तु यह स्थिर नहीं है। ध्रुव के सन्दर्भ में वैज्ञानिक भी लम्बे समय तक भ्रम में थे वे भी इसे स्थिर समझते थे। किन्तु पुराणों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है –

योऽसौ चतुर्दिशं पुच्छे शिंशुमारे व्यवस्थितः।
उत्तानपादपुत्रोऽसौ मेढीभूतो ध्रुवो दिवि।।
स हि भ्रमन् भ्रामयते चन्द्रादित्यैः ग्रहैः सह।
भ्रमन्तमुपगच्छन्ति नक्षत्राणि च चक्रवत्।।

अर्थात् ध्रुव तारा शिंशुमार चक्र समस्त ग्रहमण्डल को भ्रमण कराता हुआ स्वयं भी भ्रमण करता है। प्रख्यात दैवज्ञ कमलाकरभट्ट ने भी कठोर शब्दों में कहा है –

ध्रुवतारां स्थिरां ग्रन्थे मन्यन्ते ते कुबुद्धयः।

इतना ही नहीं काल के सूक्ष्म निरूपण प्रसंग में एक सेकेण्ड से भी छोटी इकाईयों की भी कल्पना वैदिक साहित्य में उपलब्ध है जो वैदिक काल के गहन अनुसन्धान की

ओर इंगित करती है। अथर्ववेद में सबसे छोटी कालमान की इकाई निमेष है जिसे सेकेण्ड में परिवर्तन करने से ०.००८ सेकेण्ड के तुल्य होता है। इस प्रकार की सूक्ष्म कालगणना का इतिहास किसी भी प्राचीन संस्कृति के इतिहास में दृष्टिगत नहीं हुआ है।

5.3 वैदिक संहिताओं में ज्योतिष शास्त्र के तत्त्व

वैदिक काल में ज्योतिष संबंधित अनेक विषयों का स्पष्ट रूप से प्रणयन हो चुका था। वैदिक संहिताओं में विविध विषयों से संबंधित मन्त्र प्रमाण रूप में मिलते हैं, जैसे –विश्वोत्पत्ति, विश्वसंस्था, पृथ्वी का स्वरूप, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ, ऋतुओं का कारण सूर्य, कल्प, युग, पञ्च संवत्सरात्मक युग, वर्ष, सावन, चान्द्र, सौर मान, अयन, ऋतु, मास, द्वादश मासों के मध्वादि, चौत्रादि नाम, सौर मास, पूर्णिमान्त और अमान्त मास, दिवस, तिथि, चन्द्र–कला, चन्द्र प्रकाश, चन्द्र–सूर्य–गति, वार, दिनमान, विषुव, पन्द्रह मुहूर्त, नक्षत्र, ग्रह, मास, उल्का, धूमकेतु, शुभ काल, वर्ष का आरम्भ इत्यादि।

हमारे पूर्वज सृष्टि के और विशेषतः आकाश के चमत्कारों का अवलोकन करने में सदा सचेप्ट रहते थे। कोई भी वेद या वेदभाग अथवा उसका कोई प्रपाठक ही लीजिए, उसमें आकाश, चन्द्र और सूर्य, उषा और सूर्य, रश्मि, नक्षत्र और तारे, ऋतु और मास, दिन और रात, वायु और मेघ–इनके विषय में कुछ न कुछ वर्णन अवश्य मिलेगा और वह भी बड़ा ही मनोहर, स्वाभाविक, सुन्दर, चमत्कारि और आश्चर्य कारक। आइए वैदिक संहिताओं में वर्णित ज्योतिष शास्त्र के वैदिक स्वरूप को विभिन्न विषयों के माध्यम से जानते है –

विश्वोत्पत्ति–

अब पहले यह विचार करें कि जगत् की उत्पत्ति के विषय में वेदों में क्या लिखा है। ऋग्वेदसंहिता में एक स्थान पर निम्नलिखित वर्णन है –

देवानां नु वयं जाना प्रवोचाम विपन्यया ।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे ॥1॥
ब्रह्मणस्पतिरेतासं कर्मार इवाधमत ।
देवानां पूर्व्ये युगे सतः सदजायत ।।2।।
देवानां युगे प्रथमे सतः सदजायत ।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि ॥3॥
भूर्जज्ञ उत्तानपदो भव आशा अजायन्त ।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ॥4॥
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्षया दुहिता तव ।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ।।5।। ऋ० सं० १०।७२

हम देवों के जन्म स्पष्ट वाणी से कहते हैं – जो देवगण पूर्वयुग में उत्पन्न होते हुए भी, उत्तर युग में यज्ञों में, शस्त्र गाते समय स्तोता को, देखते हैं। कर्मार की भाँति ब्रह्मणस्पति ने देवों को जन्म दिया। देवों के पूर्वयुग में असत् (सर्वाभाव) से सत् हुआ।देवों के प्रथम युग में असत् से सत् हुआ। उससे दिशाएँ हुई और उसके पश्चात् उत्तानपद हुआ।उत्तानपद से पृथ्वी हुई, पृथ्वी से आशाएं हुईं. अदिति से दक्ष हुआ, दक्ष से अदिति हुई। हे दक्ष ! तुम्हारी दुहिता अदिति के उत्पन्न होने के बाद स्तुत्य तथा अमर देव उत्पन्न हुए।

इस वर्णन के आधार पर सामान्यतः कह सकते हैं कि पहले कोई अस्तित्व उत्पन्न हुआ, उसके बाद दिशाएँ और तदनन्तर पृथ्वी उत्पन्न हुई ।

ऋक् संहिता में एक स्थान पर लिखा है–

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥ समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी।।२।। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ऋ० सं० १०।१६०.।ये मन्त्र अन्य वेदों में भी हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक स्थान पर निम्नलिखित वर्णन है। **आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत। तेन प्रजापतिरश्राम्यत। कथमिद् स्यादिति। सोऽपश्यत्पुष्करपर्णं तिष्ठत्। सोमन्यत। अस्ति वै तत्। यस्मिन्निदमधितिष्ठती। स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत्। स पृथिवीमध आर्छत्। तस्या उपहत्योदमज्जत्। तत्पुष्करपणेऽप्रथयत्। यदप्रथयत्। तत्पृथिव्य पृथिवीत्वम्॥**अष्टक १ अध्याय १ अनुवाक ३। इसमें पहले जल था, उसके बाद पृथ्वी उत्पन्न हुई इत्यादि वर्णन है। तैत्तिरीय संहिता के भी निम्नलिखित वाक्यों में इसी प्रकार उदक के पश्चात् वायु और उसके बाद पृथ्वी की उत्पत्ति बतायी गयी है।**आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वा चरत् स इमामपश्यत् तां वराहो भूत्वाऽहरत् ता विश्वकर्मा भूत्वा व्यमात् सा प्रथत सा पृथिव्यभवत् । तत् पृथिव्यै पृथिवित्वम्।।** अष्टक७ अध्याय१ अनुवाक५। इसमें उदक के बाद वायु और वायु के बाद पृथ्वी यह क्रम है।निम्नलिखित उपनिषद्भाग में बतायी हुई उत्पत्ति का क्रम अधिक सुव्यवस्थित ज्ञात होता है।**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः।**।तैत्तिरीयोपनिषद् २।१ (ब्रह्मवल्ली प्रथ मखण्ड)

अन्य भी अनेक स्थलों में सृष्टि–उत्पत्ति का वर्णन है।जैसे ब्रह्मा के मन से चन्द्रमा और नेत्रों से तेज स्वरूप सूर्य की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर मन से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है। आचार्य भास्कर ने सांख्यमत को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि– **यस्मात् क्षुब्ध प्रकृतिपुरूषाभ्यां महानस्य गर्भ अहंकारोऽभूत खकशिखिजलोर्व्यस्ततः संहतेश्च। ब्रह्माण्डं यज्जठरगमहीपृष्ठनिष्ठाद् विरंचे विश्वं शश्वज्जयति परमं ब्रह्म तत्तत्वमाद्यम्।। (सिद्धान्त शिरोमणि गोलाध्याय।)**

अर्थात् प्रकृति और पुरूष के संघर्ष से महान् की उत्पत्ति हुई, महान से अहंकार तथा अहंकार से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि–जल एवं पृथ्वी की उत्पत्ति हुई।

यद्यपि वेदों में सृष्टि की उत्पत्ति, उसका क्रम इत्यादि बातें बतलायी है, तथापि तैत्तिरीयब्राह्मण में एक स्थान पर बड़ा चमत्कारिक वर्णन यह है, कि सृष्टि–उत्पत्ति का वास्तविक कारण बतलाना असम्भव है और उसे कोई भी नहीं जानता।

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीम्। नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्। अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्। न मृत्युरमृतं तर्हि न। रात्रिया अह्न आसीत् प्रकेतः। आनीदवात् स्वधया तदेकम्। तस्माद्धान्यं न परः किञ्च नास। तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्। सलिलं सर्व मा इदम्। तुच्छेनाम्वापिहितं यदासीत्। तमसस्तन्महिमा जायतैकम्। कामस्तदग्रे समवर्तताधि। मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति। निरविन्दन्। हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा। तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्। अधस्विदासी

दुपरिस्वदासीत्। रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ।।

तै.ब्रा. २।८।६

पूर्व सृष्टि का प्रलय होकर उत्तर सृष्टि उत्पन्न होने के पहले सत् नहीं था, असत् भी नहीं था, आकाश नहीं था, उदक नहीं था, मृत्यु नहीं थी, अमृत नहीं था, रात और दिन को प्रकाशित करने वाले कोई (सूर्य–चन्द्र) न थे। केवल ब्रह्म था। उसके मन में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा हुई। उसके बाद सारा संसार उत्पन्न हुआ, इत्यादि वर्णन इन वाक्यों में है। इसके बाद आगे कहा है

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् । कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः । अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनाय। अथो को वेद यत आबभूव । इयं विसृष्टिर्यत आबभूव। यदि वा दधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् । सो अंग वेद यदि वा न वेद । किंः स्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीत् । यतो द्यावापृथिवी निष्टताः।। तै० ब्रा० २।८।६

यह विविध सृष्टि किससे उत्पन्न हुई, किसलिए हुई, इसे वस्तुतः कौन जानता है ? अथवा कौन कह सकता है ? देवता भी पीछे से हुए, फिर जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई, उसे कौन जानता है? जिससे द्यावापृथ्वी बनी वह वृक्ष कौनसा था, और किस वन में था, इसे कौन जानता है ? इन सब का अध्यक्ष परमाकाश में है, वही इसे जानता है, अथवा वह भी जानता है या नहीं, इसे कौन जाने ?

उपर्युक्त विचारों में यह अभिप्राय भी स्पष्ट है कि जगदुत्पत्ति का कारण जानने वाला तो कोई नहीं है, पर उत्पत्तिक्रम भी किसी को ज्ञात नहीं है। और निश्चित रूप से आज भी विज्ञान का अत्यधिक विकास व शोध हो जाने के उपरान्त भी ये सभी प्रश्न यथावत् बने हुए है

विश्वसंस्था –

वेदों में अधिकांश स्थानों पर द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथ्वी जगत् के तीन भाग माने गये हैं। द्यौ और पृथ्वी के बीच के भाग का नाम अन्तरिक्ष है। वही वायु, मेघ और विद्युत् का स्थान है। पक्षी उसी में उड़ते हैं।**नाम्या आसीदन्तरिक्षं शीर्णोद्यौः समवर्तत, पद्भ्यां भूमिः।** पुरुषसूक्त की इस प्रसिद्ध ऋचा में ये तीन भाग स्पष्ट हैं । मालूम होता है इनकी स्थिति का ध्यान रखकर ही विराट् पुरुष के मस्तक, नाभि और पादों से उनकी उत्पत्ति की कल्पना की गयी है।**त्रिनों अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि विरुदत्तमद्भ्यः ।।** ऋ० सं० १।३४।६ हे अश्विनो ! आप हमें तीन बार द्युलोक की, तीन बार पृथ्वी पर की और तीन बार अन्तरिक्ष की ओषधियां दीजिये।

विश्व के पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ (आकाश) ये तीन विभाग माने जाते थे। वेदों में इस बात का भी स्पष्ट निर्देश है कि मेघ, विद्युत और वायु जिस प्रदेश में घूमते हैं वह पृथ्वी के पास है और सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रों का परिक्रमण–प्रदेश पृथ्वी से बहुत दूर है। स्वर्ग, मर्त्य (पृथ्वी) और पातालात्मक विभाग वेदों में नहीं मिलते।

विश्व का अपारत्व –

निम्नलिखित ऋचा में कहा गया है कि विश्व पृथ्वी से बहुत बड़ा है

यदिन्विन्द्र पृथ्वी दशभुजिरहानि विश्वा ततनन्त कृष्टयः ।

अत्राह ते मघवन् विश्रुतं सहोद्यामनु शवसा बर्हणा भुवत् ।। ऋ० सं० १।५२।११

हे इन्द्र, यदि पृथ्वी दशगुणित बड़ी होगी और, मनुष्य सर्वदा शाश्वत रहेंगे, तभी हे मघवन् ! तुम्हारी, शक्ति और, पराक्रम द्वारा प्रख्यात तुम्हारा प्रभाव द्युलोक जितना बड़ा होगा।

यहां हमें इतना ही देखना है कि यह विश्व पृथ्वी से अनन्तगुणित बड़ा है, यह बात इस ऋचा में स्पष्ट है। विश्व के आनन्त्य का वर्णन अन्यत्र भी बहुत से स्थलों में है।

सब भुवनों का आधार सूर्य –

सब भुवन सूर्य के आधार पर हैं, इस विषय में ऋचाऐं प्राप्त होती है। जैसे –

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनाम ।

त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः ।। ऋ० सं० १।१६४।२

उस एक चक्रवाले रथ में सात घोड़े जोड़े जाते हैं परन्तु, सात नामों का एक ही घोड़ा रथ, खींचता है। उस चक्र में तीन नाभियां हैं। वह अक्षय और अप्रतिबन्ध है और उसी के आधार पर सब भुवन स्थित हैं।वेदों में सूर्य के आकर्षण बल पर आकाश में नक्षत्रों की स्थिति का वर्णन मिलता है।

"तिस्त्रो द्यावः सवितर्द्वा उपस्थां एका यमस्य भुवने विराषाट, अणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत॥(सूर्य ही दिन और रात का कारण होता है) (ऋ.म.१.सू.३५.म–६)**आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेश्यन्नमृतं मर्त्य च हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्** (सूर्य के आकर्षण पर ही पृथ्वी अपने अक्ष पर स्थिर है) (य.वे.अ.३३ म.४३)

भारतीय आचार्यों का आकर्षण सिद्धान्त का सम्यक ज्ञान था:–

सविताः यन्त्रैः पृथ्वीमरम्णादसक्म्भने सविता द्यामदृहत अश्वमिवाधुक्षदधुनिमन्तरिक्षमतूर्ते वद्धं सविता अमुद्रम" (ऋ.म.१० सू.१४६ म.१)

ऋतुओं का कारण सूर्य–

ऋतुओं का कारण सूर्य है। इस विषय में भी अनेक स्थलों पर वर्णन प्राप्त होता है –**पूर्वामनु प्रदिशं पार्थिवानामृतून् प्रशासद्विदधावनुष्ठु** । ऋ० सं० १।९५।३

वह सूर्य, ऋतुओं का नियमन करके क्रमशः पृथ्वी की पूर्वादि दिशाओं का निर्माण करता है।ऋतुओं का उत्पादक सूर्य है, इसके और भी बहुत से प्रमाण हैं।

वायु का कारण सूर्य –

निम्नलिखित वाक्य में वायु चलने का कारण भी सूर्य ही बतलाया गया है –

सवितारं यजति यत्सवितारं यजति तस्मादुत्तरतः पश्चादयं

भूयिष्ठं पवमानः पवते सवितृप्रसूतो ह्येष एतत्पवते ।। ऐ० ब्रा० २।७

वह होता, सविता के लिये याज्य कहता है। सविता का यजन करने मे उत्तर पश्चिम की ओर से बहत वायु चलता है क्योंकि वह सविता से उत्पन्न होकर बहता है।: ऋ० ८।७२।१६ में स्पष्ट कहा है कि **(सूर्यस्य सप्त रश्मिभिः)** सूर्य की सात किरणें हैं। इससे ज्ञात होता है, प्राचीनकाल में आर्य इस आधुनिक सिद्धान्त से कि सूर्य–किरणों के सात रंग हैं अपरिचित नहीं थे।सूर्य एक ही है, दो, बारह या अनेक नहीं हैं। इस विषय में ऋक्संहिता में लिखा है –**एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः । एकवोषा सर्वमिदं विभाति......** । ऋ० सं० ८।५८।२

एक ही सूर्य विश्व का प्रभु है। एक ही उषा विश्व को प्रकाशित करती है।

पृथ्वी का गोलत्व, निराधारत्व और दिन–रात –

वेदों में सूर्य का चलन का अत्यन्त सुन्दर और वैज्ञानिक विवेचन किया गया है –

स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति तं यदस्तमेतीति मन्यन्तेह्न एव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते रात्रिमेवावस्तात् कुरुतेहः परस्तादथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यते रात्रेरेव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यतेऽहरेवावस्तात् कुरुते रात्रीं परस्तात् स वा एष न कदाचन निम्नोचति । ऐ० ब्रा० १४।६

वह (सूर्य) न तो कभी अस्त होता है न उगता है। यह जो अस्त होता है वह (सचमुच) दिन के अन्त में जाकर अपने को उलटा घुमता है। इधर रात करता है और उधर दिन। इसी प्रकार यह जो सबेरे उगता है वह (वस्तुतः) रात्रि का अन्त करके अपने को उलटा घुमता है। इधर दिन करता है और उधर रात्रि। वस्तुतः, यह सूर्य, कभी भी अस्त नहीं होता।उपर्युक्त ब्राह्मण वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पृथ्वी गोल है, आकाश मे अलग है और आकाश में निराधार स्थित है इन बातों का ज्ञान यहां था । अथर्ववेद के गोपथब्राह्मण (१०) में भी इस अर्थ के बहुत से ऐसे ही वाक्य हैं।ज्ञात होता है ऋग्वेदसंहिताकाल में भी यह बात ज्ञात थी, कि पृथ्वी का आकार गोल है और वह निराधार है। निम्नलिखित ऋचाएँ देखिये–

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः।

न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परिस्पशो अदधात् सूर्येण ॥ऋ० सं० १।३३।८

सुवर्णमय अलंकारों से सुशोभित वृत्र के, दूत पृथ्वी की परिधि के चारों ओर चक्कर लगाते हुए तथा आवेश से दौड़ते हुए भी इन्द्र को जीतने में समर्थ नहीं हुए। फिर उसने उन, दूतों को सूर्य (प्रकाश) से आच्छादित किया।

पृथ्वी यदि समधरातल होती तो सूर्य के उगते ही उसकी किरणें सम्पूर्ण पृथ्वी पर कम–से–कम उसके आधे भाग पर एक ही साथ पड़तीं परन्तु वे इस प्रकार न पड़कर क्रमशः पड़ती हैं, ऐसे निर्देश अनेकों स्थलों में हैं। निम्नलिखित ऋचा देखिये

आप्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे।
प्रबाहू असाक् सविता सवीमनि निवेशयन् प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत् ।।
ऋ० सं० ४।५३।३

देदीप्यमान सविता ने, अन्तरिक्ष के, द्युलोक के और, पृथ्वी पर के प्रदेश तेज मे भर डाले हैं. अपनी कांति से जगत् को सुलाते और जाग्रत करते हुए सविता ने उदित होकर अपनी बाहें फैला दी हैं। सूर्य सुलाते और जाग्रत करते हुए उगता है– इसका अर्थ यह है कि वह जैसे–जैसे आकाश में ऊपर चढ़ता जाता है वैसे–वैसे जगत् के कुछ भागों में रात्रि होने लगती है और कुछ भागों में दिन। इससे पृथ्वी का गोलत्व व्यक्त होता है।

युग

किसी कालमान के अर्थ में युग शब्द वेदों में अनेकों बार आया है। केवल युग शब्द या कृतादि चार युगों में से कोई एक जिन मन्त्रों में आया हैं उन्हें पहले यहां उद्धृत करते हैं, क्योंकि ऐसा करने से उनके विषय में विचार करने में सुविधा होगी।

देवानां पूर्व्ये युगे सतः सदजायत । ऋ० मं० १०।७२२

तदूचुषे मानुषेमा युगानि कीर्तन्यं मघवा नाम बिभ्रत् ।

उपप्रयन्दस्य हत्याय वज्री यद्धसूनुः श्रवसे नाम दधे ।। ऋ० सं० १११०३१४

अति प्रबल इन्द्र ने हाथ में वज्र लेकर दस्यु को मारने के लिए जाते समय जो नाम धारण किया उसी प्रख्यात नाम को इस मानवयुग में स्तोता के लिए मघवा धारण करता है।सायणाचार्य का कथन है कि यहां युग शब्द से कृतत्रैतादि युगों का ग्रहण करना चाहिये।

विश्वे ये मानुषा युगा पान्नि मर्त्यं रिषः। ऋ० सं०५।५२।४

ईर्मान्यद्वपुषे वपुश्चक्रं रथस्य ये मथुः ।

पर्यन्या नाहुषा युगा मह्नारजांसि दीयथः ।। ऋ० सं० ५।७३।२

अर्थ– हे अश्विनो, मानवयुग में तुम अपने रथ के दूसरे चक्र से भुवन के चारों ओर घूमते हो।

युगे युगे विदध्यं गृणभ्योग्नेरयिं यशसं धेहि नव्यसीम् । ऋ० सं० ६।८।५ हे अग्ने ! प्रत्येक युग में यज्ञार्थ तुम्हारे उद्देश्य से नयी स्तुति करनेवाले हमको द्रव्य और यश दो। **या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।** ऋ० सं० १०।९७।१ अर्थ –जो औषधियां पहिले तीन युगों में देवों से उत्पन्न हुई।इसके भाष्य में सायणाचार्य ने त्रियुगं शब्द का अर्थ कृत, त्रेता, द्वापर तीन युगों में अथवा वसन्त, वर्षा, शरद् तीन ऋतुओं में किया है। तैत्तिरीय संहिता में यह मन्त्र "**या जाता ओषधयो देवेभ्यस्त्रियुगम्पुरा** इस प्रकार है। वाजसनेयिसंहिता (१२।७५) में भी "**या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगम्पुरा** इस प्रकार है। भाष्यकार महीधर ने यहां त्रियुग शब्द से वसन्त, वर्षा और शरद् ऋतुओं का ग्रहण किया है।

कृतादि शब्द

वेदों में युगों के कृतादि संज्ञाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। **कृताय सभाविनं। त्रेताया आदिनवदर्शम् । द्वापराय बहिःसदम् । कलये सभास्थाणुम्** ।तै० ब्रा० ३।४।१ कृत के लिए सभावी का (आलम्भन किया जाय)। त्रेता (देवता) को आदिनवदर्श, द्वापर को बहिःसद और कल को सभास्थाणु देना चाहिये।

कलिः शयानो भवति सज्जिहानस्तु द्वापरः।

उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरश्चरवेति चरैवेति ।। ऐ० ब्रा० ३३।१५

सोने वाला कलि, बैठनेवाला द्वापर और उठने वाला त्रेता होता है। घूमनेवाला (होने पर) कृत सम्पन्न होता है (अतः) घूमता ही रह, घूमता ही रह ।

पञ्चसंवत्सरात्मक युग

वेदांगज्योतिष में पांच वर्ष का युग माना गया है। उसके नाम है संवत्सर, परि. वत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर। ये नाम यद्यपि वेदांग ज्योतिष में नहीं हैं पर वेदों से ज्ञात होता है कि उन पांचों के नाम ये ही हैं। गर्गादिकों ने भी इस युग संवत्सरों के ये ही नाम लिखे हैं। अब देखना है कि इस विषय में वेदों में क्या लिखा है।

संवत्सरस्य तदहः परिषष्ठयन्मण्डकाः प्रावषीणं बभव।

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्मकृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।। ऋ० सं० ७।१०३।७

संवत्सरोसि परिवत्सरोसीदावत्मरोसीद्वत्सरोसि वत्सरोसि । वा० सं० २६।४५

संवत्सराय पर्यायिणीं परिवत्सरायाविजातामिदावत्सरायातीत्वरीमिद्वत्सराया तीत्वरीमि द्वत्सरायातिष्कद्दरीं वत्सराय विजर्जरा संवत्सराय पलिक्नीम् ।। वा० सं० ३०।१६

यह मन्त्र पुरुषमेध का है। इसमें संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर और वत्सर को पर्यायिणी प्रभति स्त्रियां देने के लिए कहा है। वाजसनेयिसंहिता के इन दोनों मन्त्रों में नामों का क्रम एक ही है। द्वितीय मन्त्र में संवत्सरादि पांच नामों के बाद संवत्सर शब्द एक बार फिर आया है।तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है**अग्निर्वा संवत्सरः। आदित्यः परिवत्सरः। चन्द्रमा इदावत्सरः। वापरनवत्सरः।** तै०ब्रा० १।४।१० अग्नि ही संवत्सर है। आदित्य परिवत्सर है। चन्द्रमा इदावत्सर और वायु अनुवत्सर है।तैत्तिरीय और वाजसनेयि संहिताओं में संवत्सर, परिवत्सर इत्यादि नाम अन्य भी बहुत से स्थानों में आये हैं। इस प्रकार कहीं पांच, कहीं छ और कहीं चार ही नाम आये हैं और वे भी भिन्न भिन्न प्रकार से दिये गये हैं।

वर्ष

ऋग्वेद में शरद् के प्रति ऋतुवाचक शब्द वर्ष अर्थ में अनेक बार आये हैं। कुछ स्थलों में संवत्सर और परिवत्सर शब्द भी है। दोनों यजुर्वेदों में वर्ष अर्थ में शरद् और हेमन्त इत्यादि शब्द तो अनेकों बार आये ही हैं परन्तु संवत्सर शब्द उनकी अपेक्षा अधिक बार आया है। गोपथ ब्राह्मण (६।१७) में वर्ष अर्थ में हायन और वाजसनेयिसंहिता के निम्नलिखित मन्त्रों में समा शब्द आया है।

तेषां श्रीर्मयिकल्प्यतामस्मिन्लोके शत समाः। वा० सं० १६।४६। **कुर्वन्नेवेहकर्माणि जिजीविषे शतं समाः ।** वा० सं० ४०।२। ऋक्संहिता (१०।८५।५) के **समानां मास आकृतिः** वाक्य में भी संवत्सर अर्थ में समा शब्द आया है।

मास

इस ऋचा में यह भी बतलाया है कि वर्ष में मास सामान्यतः १२ होते हैं –**द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वति चक्रं परिद्यामनस्य । आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विशतिश्च तस्थुः ।।** ऋ० सं० १।१६४।११।

सत्यभूत आदित्य का बारह अरों वाला चक्र द्युलोक के चारों ओर सतत भ्रमण करते हुए भी नष्ट नहीं होता है। हे अग्ने इस चक्र, पर पुत्रों के ७२० जोड़े आरूढ़ हुए रहते हैं।

द्वादश प्रधयश्चक्रमकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत । तस्मिन्साकं त्रिशता न न शंकवोऽपिताःषष्टिर्न चलाचलासः॥ - ऋ० सं० १।१६४।४८

बारह परिधि, एक चक्र और तीन नाभि–इन्हें कौन जानता है ? उस चक्र में शंकु की तरह ३६० चञ्चल अरे लगाये हुए हैं।

इन दोनों ऋचाओं के चमत्कारिक वर्णन का तात्पर्य यह है कि संवत्सर रूप एक चक्र है, बारह मास ही उसके बारह अरे हैं और ३६० दिवस ३६० कांटे (रात्रि) हैं। रात्रि–दिन ही एक मिथुन है और ऐसे मिथुन ३६० हैं अर्थात् दिन रात मिलाकर सब ७२० है

मधुश्च माधवश्च शुक्रश्च शुचिश्च नभश्च नभस्यश्चेषश्चोर्जश्च सहश्च सहस्यश्च तपश्च तपस्यश्चोपयामगृहीतोसिश संसर्पोस्यू हस्पत्याय त्वा । तै० सं० १।४।१४

हे सोम तुम उपयाम (स्थाली) द्वारा गृहीत हुए हो। मधु हो, माधव हो..। यहां मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभर; नभस्य, इष,ऊर्ज, सहस् सहस्य, तपस् तपस्या – ये मासों के १२ नाम आये हैं और संसर्प नाम अधिमास के लिए आया है। इसके भाष्य में माधवाचार्य ने अंहस्पति का अर्थ क्षयमास किया है।तैत्तरीय ब्राह्मण में १३ मासों के नाम

इस प्रकार हैंः–**अरुणोरुण्जाः पुण्डरीको विश्वजितभिजित। आर्द्रः पिन्वमानोन्नवान रसवाजिरावान। सर्वौषधः संभरो महस्वान॥**(तैत्तरीय.ब्रा.३.१०.१)

1.अरुण, 2. अरुणरज, 3. पुण्डरीक, 4. विश्वजित, 5. अभिजित, 6. आर्द्र, 7. पिन्वमान, 8. उन्नवान, 9. रसवान, 10. इरावान, 11. सर्वौषध, 12. संभर, 13. सहस्वान।

द्वादशरत्नी रशना कर्त्तव्या ३ त्रयोदशरत्नी ३ रिति । ऋषभो वा एष ऋतूनां। यत्संवत्सरः। तस्य त्रयोदशो मासो विष्टपं। ऋषभ एष यज्ञानां। यदश्वमेधः । यथा वा ऋषभस्य विष्टपं । एवमतम्य विटपम्।।तै० ब्रा० ३।८।३

अश्वमेध में, रशना १२ अरत्नी की करनी चाहिए या १३ की? संवत्सर ऋतुओं का ऋषभ (श्रेष्ठ) है। १३वाँ मास उसका विष्टप है। अश्वमेध यज्ञों में श्रेष्ठ है। जैसे ऋषभ (वृषभ) का विष्टप है उसी प्रकार उसका भी है।

उपर्यक्त वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदकाल में वर्ष सौर था । जैसे दिन का मान जानने का स्वाभाविक साधन दो सूर्योदयों के बीच का काल और मास जानने का साधन चन्द्रमा के दो बार पूर्ण होने के मध्य का काल है उसी प्रकार वर्ष जानने का सहज साधन ऋतुओं की एक परिक्रमा है। ऋतुएं न होती तो वर्ष एक कालमान न होता। ऋतुएं सूर्य द्वारा होती हैं, अतः वर्ष सौर ही रहा होगा। वस्तुतः १२ चान्द्र मास और लगभग ११ दिनों में ऋतुओं की एक प्रदक्षिणा होती है पर सर्वप्रथम इतना मूक्ष्म ज्ञान होना कठिन है। प्रथम–प्रथम लोग बहुत दिनों तक १२ चान्द्रमासों में ही ऋतुओं की एक प्रदक्षिणा अर्थात् वर्ष मानते रहे होंगे पर इस पद्धति में जो प्रथम मास माना गया रहा होगा वह कुछ दिनों तक ग्रीष्म में, उसके बाद शिशिर में और तत्पश्चात वर्षा में अर्थात् उत्तरोत्तर पीछे आता रहा होगा और सम्प्रति प्रचलित ३३ वर्षों में उसका सब ऋतुओं में भ्रमण होता रहा होगा। इस प्रकार ३३ वर्षों के कई पर्याय समाप्त होने पर अधिकमास प्रक्षेपण की कल्पना ध्यान में आयी होगी और वह थी। इससे सिद्ध होता है कि उस समय वर्ष सौर था।

ऋतुएं

तैत्तरीय संहिता में ऋतुओं एवं मासों के नाम बताये गये है,जैसे :–**मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृत् शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृत् नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृत् इषश्चोर्जश्च शरदावृतूसहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू तपश्च तपस्यश्च शशिरावृतू।** तै०सं० ४।४।११

बसंत ऋतु के दो मास– मधु माधव, ग्रीष्म ऋतु के शुक्र–शुचि, वर्षा के नभ और नभस्य, शरद के इष ऊर्ज, हेमन्त के सह सहस्य और शिशिर ऋतु के दो माह तपस और तपस्य बताये गये हैं। ६ ऋतुओं और उनके नामों का उल्लेख अनेकों स्थानों में मिलता है। (तैत्तिरीयसंहिता ४।३।२, ५।६।२३, ७।५।१४।

अयन

तस्मादित्यः षण्मासो दक्षिणति षडुत्तरेण। तै० सं० ६।५।३। यहां स्पष्ट रूप में बताया है कि मूर्य ६ मास दक्षिण और ६ मास उत्तर चलता है।ज्योतिष में वर्ष को उत्तरायण एव दक्षिणायन दो विभागों में विभाजित किया गया है,उत्तरायण का अर्थ है बिन्दु से सूर्य का उत्तर दिशा की ओर जाना तथा दक्षिणायन से तात्पर्य है सूर्य का सूर्योदय बिन्दु से दक्षिण की ओर चलना। शतपथ ब्राह्मण के अनुसारः–**"बसंतो ग्रीष्मो वर्षाः। ते देवा ऋतवः शरद्धेमतं शिशिरस्ते पितरौस (सूर्यः) यत्रो तगार्वतते देवेषु र्तहि भवतियत्र दक्षिणावर्तते पितृषु र्तहि भवति॥**

उक्त मंत्र के अनुसार बसंत ग्रीष्म वर्षा ये देव ऋतुयें है, शरद हेमन्त और शिशिर यह पितर ऋतुयें हैं। जब सूर्य उत्तरायण मे रहता है तो ऋतुये देवों में गिनी जाती है। तैत्तरीय उपनिषद में वर्णन है कि सूर्य ६ माह उत्तरायण और ६ माह दक्षिणायन में रहता है:–**"तस्मादादित्यः षण्मासो दक्षिणेनैति षडुत्तरेण"**. (तै.स.६.५.३)।

दिवस व तिथि

अब सावन दिन, सौर दिन और चान्द्र दिन अर्थात् तिथि का विवेचन करेंगे। वेदों में सौर मास का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, अतः सौर दिन का न होना भी स्पष्ट ही है । सावन दिन है। वह बड़ा व्यवहारोपयोगी है। यज्ञ उसी के अनुसार किये जाते थे।तैत्तिरीय ब्राह्मण के निम्नलिखित वाक्यों में शुक्ल और कृष्णपक्षों के दिन और रातों के भिन्न–भिन्न नाम पठित हैं।

सज्ञानं विज्ञानं दर्शा दृष्टेति । एतावनुवाकौ पूर्वपक्षस्याहोरात्राणां नामधेयानि । प्रस्तुतं विष्टुत सुता सुन्वतीति ।एतावनुवाकावपरपक्षस्याहोरात्राणां नामधेयानि ।। तै. ब्रा० ३।१०।१०।२**संज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं जानभिजानत् । संकल्पमानं प्रकल्पमानमुपकल्पमानमपक्लप्तं क्लप्तं । श्रेयोवसीय आयत् सम्भूतं भूतम् ।।** तै० ब्रा० ३।१०।१।१

ये पूर्व पक्ष के अहों (दिवसों) के प्रत्येक वाक्य में पाँच–पांच और सब मिलकर १५ नाम है।**दर्शा दृष्टा दर्शता विश्वरूपा सुदर्शना । अप्यायमाना प्यायमाना श्याया सुनतेरा। आपूर्यमाणा पूर्यमाणा पूरन्ति पूर्णा पौर्णमासी।।** तै० ब्रा० ३।१०।१।१ये पूर्वपक्ष की १५ रात्रियों के १५ नाम हैं। पौर्णमासी इत्यादि शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पूर्वपक्ष का अर्थ शुक्लपक्ष है।**प्रस्तुतं विष्टुतं सस्तुतं कल्याणं विश्वरूपं । शुक्रममृतं तेजस्वि तेजः समृद्धं । अरुणं भानुमन् मरीचिमभितपतं तपस्वत् ।**तै ब्रा० ३।१०।११२। ये अपरपक्ष अर्थात् कृष्णपक्ष के १५ दिनों के नाम है।**सुता सुन्वती प्रसुता सूयनामाऽभिषयमाणा । पीति प्रपा सम्पा तृप्तिस्तर्पयन्ती। कान्ता काम्या कामजाताऽयुष्मती कामदुघा ।।** तै० ब्रा० ३।१०।१।२,३। ये कृष्णपक्ष की १५ रात्रियों के नाम हैं।चन्द्रमा का नाम पंचदश भी है, जो पन्द्रह दिन में क्षीण और पन्द्रह दिन में पूर्ण होता है,जो निम्न मंत्र में व्यक्त हो रहा है:–

चन्द्रमा वै पंचदशः एष हि पंचद्श्यामपक्षीयते,पंचदश्यामापूर्यते॥

(तैतरीय ब्राह्मण १.५.१०)।

पञ्चदशी में चन्द्रमा क्षीण होता है और पञ्चदशी में पूर्ण होता है। पञ्चदशी शब्द से ज्ञात होता है कि उस समय प्रथमा, द्वितीया अर्थात् प्रतिपदा, द्वितीया इत्यादि संज्ञा प्रचलित रही होंगी। वे पहिले रात्रि की वाचक रही होंगी और बाद में तिथिवाचक हुई होंगी। सामविधानब्राह्मण (२१६, २१८, ३१३) में कृष्णचतुर्दशी, कृष्णपञ्चमी और शुक्लचतुर्दशी शब्द आये हैं।अमावास्या को दर्श और अमावास्या तथा पूर्णिमा को पर्व कहा है। पूर्णिमा को अनुमति और राका तथा अमावास्या को सिनीवाली और कुहू भी कहा है। ऋक्संहिता के मण्डल २ सूक्त में राका और सिनीवाली शब्द है। ऐतरेयब्राह्मण ३२॥१० और गोपथ ब्राह्मण ६।१० में लिखा है–

या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राका या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहूः।।

नक्षत्र –

निम्नलिखित मन्त्र में कहा है कि विश्वदर्शी सूर्य के आते ही नक्षत्र और रात्रि चोर की तरह भाग जाती हैं।

अपत्ये तावयो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः । मूराय विश्वचक्षसे ।। ऋ० सं० १।५०।२।। अथ० सं० १३।२।१७, २०।४७।१४। **अभि श्यावं न कृशनेमिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिशन् ।।**ऋ० सं० १०।६८।११

इन दोनों वाक्यों में तारों को नक्षत्र कहा है। **द्यौरिव स्मयमानो नभोभिः** वाक्य में तारका अर्थ में नभः शब्द का प्रयोग किया गया है। कहीं–कहीं तारका अर्थ में रोचना शब्द आया है।**द्यावो न स्तभिश्चितयन्त** (ऋ० सं० २॥३४॥२) और **ऋतावानं विचेतसं पश्यन्तो द्यामिव स्तभिः** (ऋ० सं० ४।७।३) इन दो मन्त्रों में तारा अर्थ में **स्तु** शब्द आया है। यहां पहिली दो ऋचाओं में नक्षत्र शब्द केवल चन्द्रमार्ग में आनेवाले नक्षत्रों के लिए ही नहीं, सब तारों के लिए आया है।

अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ।। ऋ० सं० १०।८५।२ अथ० सं० १४।१।२।

इसमें लिखा है–नक्षत्रों में सोम रखा है। मालूम होता है यहां नक्षत्र शब्द केवल चन्द्रमार्गान्तर्गत नक्षत्रों के लिए ही आया है।

ऋक्संहिता में (७।५।२५) चन्द्रमार्गान्तर्गत और उनसे भिन्न तारों के लिए एक ही शब्द है परन्तु तैत्तिरीयसंहिता में एक स्थान पर दोनों में भेद किया है। मेध्य अश्व के विषय में कहा है––

यो वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरो वेद शीर्षण्वान्मध्यो भवत्युषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणश्चन्द्रमाः श्रोत्रं दिशः पादा अवान्तरदिशः पर्शवोहोरात्रे निमेषोधमासाः पर्वाणि मासाः सन्धानान्यतवोंज्गानि संवत्सर आत्मा रश्मयः केशा नक्षत्राणि रूपं तारका अस्थीनि नभो मा सानि... ।

जो मेध्य अश्व का शिर जानता है वह शीर्षण्वान् और पवित्र होता है। उषा मेध्य अश्व का शिर है। सूर्य चक्षु, वात प्राण, चन्द्रमा कर्ण, दिशाएं पैर, अवान्तर दिशाएँ पशु, अहोरात्र निमेष, अर्धमास पर्व, मास सन्धान, ऋतु अंग, संवत्सर आत्मा, रश्मि केश, नक्षत्र रूप और तारे अस्थियां हैं।

तैत्तिरीय श्रुति में नक्षत्रसम्बन्धी बहुत सी बातें हैं। कहीं सब नक्षत्रों के नाम और उनके देवता पठित हैं, कहीं उनके विषय में अन्य प्रकार के बहुत से वर्णन हैं, कहीं उनके नामों की व्युत्पत्ति बतायी है और कहीं कुछ बीच के ही नक्षत्रों के नाम प्रसंगवशात् आये हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में तीन स्थानों पर सब नक्षत्रों के नाम और उनके देवता पठित है। उनमें से अग्रिम अनुवाक में बड़ा चमत्कारिक वर्णन है इसलिए उसे यहां उद्धृत करते हैं।

अग्नेः कृत्तिकाः। शुक्रं परस्ताज्ज्योतिरवस्तात्। प्रजापते रोहिणी। आपः परस्तादोषधयोवस्तात्। सोमस्येन्वका विततानि। परस्तात् वयन्तोवस्तात् । रुद्रस्य बाहू। मृगयवः परस्ताद्विक्षारोऽवस्तात्। आदित्य पुनर्वसू। वातः परदार्द्रमवस्तात। बृहस्पतेस्तिष्यः। जुह्वतः परस्ताद्यजमाना अवस्तात्। सर्पाणामाश्रेषाः। अभ्यागछन्तः परस्ताभ्यानृत्यन्तोवस्तात् । पितृणां मघाः। रुदन्तः परस्तादपभ्रंशोवस्तात्। अर्यम्णः पूर्वेफल्गुनी। जाया परस्तादृषभोवस्तात् । भगस्योत्तरे। वहतवः परस्ताद्वहमाना अवस्तात् । देवस्य सवितुर्हस्तः । प्रसव परस्तात्मनिरवस्तात् । इन्द्रस्य चित्रा। ऋतं परस्तात्सत्यमवस्तात् । वायोनिष्ट्या व्रततिः। परस्तादसिद्धिरवस्तात् । इन्द्राग्नियोविशाखे। युगानि परस्तात् कृषमाणा अवस्तात्। मित्रस्यानुराधाः। अभ्यारोहत्परस्तादभ्यारूढमवस्तात्। इन्द्रस्य रोहिणी। शृणत्परस्तात्प्रतिशृणदवस्तात् । निर्ऋत्यै मूलबर्हणी। प्रति

भजन्तः परस्तात्प्रतिशृणन्तोवस्तात्। अपां पूर्व अषाढ़ाः । वर्चः परस्तात्समितिरवस्तात्। विश्वेषां देवानामुत्तराः। अभिजयत्परस्तादभिजितमवस्तात्। विष्णोः श्रोणा। पृच्छमानाः परस्तात्पन्था अवस्तात् । वसूना श्रविष्ठाः। भूतं परस्ताद्भतिरवस्तात् । इन्द्रस्य शतभिषक् । विश्वव्यचाः परस्ताद्विश्वक्षितिरवस्तात् । अजस्यैकपदः पूर्वे प्रोष्ठपदाः । वैश्वानरं परस्ताद्वैश्वावसवमवस्तात्। अहेर्बुध्नियस्योत्तरे। अभिषिञ्चन्तः परस्तादिभशृण्वन्तोवस्तात् पूष्णो रेवती गावः परस्तात् वत्सा अवस्तात् । अश्विनोरश्वयुजौ। ग्रामः परस्तात्सेनावस्तात् । यमस्यापभरणीः। अपकर्षन्तः परस्तादपवहन्तोवस्तात् । पूर्णा पश्चाद्यते देवा अदधुः ।।तै० ब्रा० १।५।१

तैत्तिरीयब्राह्मण—तृतीयाष्टक के प्रपाठक १ के अनुवाक १ और २ में सब नक्षत्र, उनके देवता और नक्षत्र विषयक कुछ चमत्कारिक और मनोरंजक वर्णन है।

अथर्वव संहिता में 28 नक्षत्रों के नाम वर्णित किये गये हैं, जो निम्न प्रकार से हैं

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि। अष्टविशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सपर्यामि नाकम् ॥1॥ सुहवं मे कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्र्दा । पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे ॥2॥ पुण्यं पूर्वाफल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वातिः सुखो मे अस्तु। राधो विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्टं मूलम् ॥3॥ अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्ज ये द्युत्तर आ वहन्तु । अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम् ॥4॥ आ मे महच्छतभिषग्वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म । आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आ वहन्तु ॥5॥अथ० सं० १६।७

यहां नक्षत्रों के देवता नहीं बतलाये हैं। प्रथम मन्त्र से ज्ञात होता है कि नक्षत्र २८ माने हैं। तैत्तिरीयश्रुति में दो स्थलों में अभिजित नक्षत्र का नाम आया है परन्तु स्पष्टतया कहीं भी यह नहीं बताया है कि नक्षत्र २७ हैं या २८ । शतपथब्राह्मण में एक स्थान (१०१५४५) पर २७ नक्षत्र और २७ उपनक्षत्र बतलाये हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में नक्षत्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है –

प्रबाहुर्वा अग्रे क्षत्राण्यातेपुः। तेषामिन्द्रः क्षत्राण्यादत्त। न वा इमानि क्षत्राण्यभूवनिति । तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम् ।। तै. ब्रा० २।७।१८।३

इसका तात्पर्य इतना ही ज्ञात होता है कि जो क्षत नहीं हैं वे नक्षत्र हैं।

शुभकाल

वेदों में विशेष नक्षत्रों में शुभाशुभ कार्य करने का भी निर्देश किया गया है। वेदकाल में भी लोगों की यह धारणा थी कि प्रत्येक कर्म के लिए शुभ मुहूर्त आवश्यक है। ऋक्संहिता ७।८८।४ में लिखा है –**स्तोतारं विप्रः सुदितत्वे आह्नां या यानुद्यावस्ततनन्यादुषासः**।विप्र (मेधावी) वरुण, ने बीतने वाले दिन और रात्रि को विस्तृत करते हुए स्तोता को दिवसों के सुदिनत्व में स्थापित किया ।तैत्तिरीयश्रुति में अग्न्याधान प्रभृति कर्मोपयोगी नक्षत्र सूचक अनेकों वचन है। जैसे – **उदितेषु नक्षत्रेषु व्रतं कृणनेनि वाचं विसृजति** । तै० सं० ६.१।४।४अर्थात् नक्षत्र उगने पर मौनत्याग करता है।

यां कामयेत दुहितरं प्रिया स्यादिति। तां निष्ट्यायां दद्यात्। प्रियैव भवति। तै०ब्रा०१।५।२

यदि यह इच्छा हो कि कन्या पति को प्रिय हो तो निष्ट्या स्वाती, नक्षत्र में उसका दान करना चाहिए। इससे वह प्रिय हो जाती है।

ग्रह

नव ग्रहों में से सूर्य–चन्द्रमा का उल्लेख वेदों में सैकड़ों स्थानों में है और राहु–केतु अदृश्य ही है, अवशिष्ट भौमादि पांच ग्रह ही वास्तविक सूर्यमाला के ग्रह हैं, ऋक्संहिता १।१०५।१० में लिखा है –**अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुमही दिवः। देवत्रा नु प्रावच्यं सध्रीचीनानि वावृदुवित्तं मे अस्य रोदसी ।।**ये जो महाप्रबल पांच देव विस्तीर्ण द्युलोक के मध्य में रहते है उनका मैं स्तोत्र बना रहा हूँ। एक साथ आने वाले होते हुए भी आज वे चले गये है।ऋकहिता में एक अन्य स्थान १०।५५।३ में भी पञ्चदेव शब्द आया है, अतः पञ्चदेव का अर्थ ग्रह हो सकता है। "देवगृहा वै नक्षत्राणिश्श अर्थात् नक्षत्र देवों के गृह है, वाक्य से भी इस कथन की पुष्टि होती है और इसी वाक्य से यह भी ज्ञात होता है कि वेदकाल में ग्रहों का ज्ञान था।

चन्द्रमा के विषय मे भी वेदों में पर्याप्त जानकारी मिलती है। चन्द्रमा स्वतः प्रकाशवान नही है। इस सिद्धान्त की पुष्टि वेद मंत्रों में ही है जैसेः–**अत्राह गोर्मन्वतनाम त्वष्टुरपीच्यम इत्था चन्द्रमसो ग्रहे** (ऋ.,म.१.सू.८४ म.१५)चन्द्रमा आकाश मे गतिशील है,यह नित्यप्रति दौडता है,चन्द्रिका के साथ जो निम्न मंत्र से व्यक्त हो रहा हैः–**चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि, न वो हिरण्यनेमयः पदं विदन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी** (ऋ.म.१.सू.१०५म.१)बृहस्पति के महत्व के विषय में स्वतन्त्र कल्पना भी मिलती है।**बृहस्पतिः प्रथमञ्जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्** ।ऋ० सं० ४।५०।४ अथ० सं० २०।८८।४। प्राचीन काल में भारतीयों को शुक्र के ग्रहत्व का भी ज्ञान हो चुका था। **वस्व्यसि रुद्रास्यदित्यस्यादित्यासि शुक्रासि चन्द्रासि बृहस्पतिस्त्वा सुम्ने रण्वतु ।।** तै०सं० १।२।५

हे सोमक्रयणि तू वस्वी (वस्वादि देव रूप) है, रुद्रा है, अदिति है, आदित्या है, शुक्रा है, चन्द्रा है। बृहस्पति तुझे इस, सुखप्रदेश में रमण करावे ।यहां शुक्रा प्रयोग शुक्र ग्रह के ही उद्देश्य से किया गया है।विद्वानों का मत है कि शुक्र के लिये वेदों में वेन शब्द का प्रयोग किया गया है। ऋक्संहिता १०।१२।३ में लिखा है कि यह वेन उदित हुआ है –**अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसोविमाने ।।**

यह सूत्र वेनदेवतात्मक है। वर्णन के ढंग से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह मुक्त आकाशस्थ किसी बृहत् ज्योति अर्थात् तारा या ग्रह के उद्देश्य से कहा गया है । वेद के कुछ अन्य वर्णनों से ज्ञात होता है कि यह सूक्त शुक्र विषयक है।

ग्रहण

ताण्ड्य ब्राह्मण में ग्रहण का उल्लेख ४।५।२; ४।६।१३; ६।६।८; १४।११।१४, १५; २३।१६।२ इन पांच स्थानों में है। उनमें यह वर्णन है कि स्वर्भानु ने तम से सूर्य को वेधित किया। उन पांचों में से ६।६।८ और १४।११।१४, १५ इन दो स्थानों में कहा है कि अत्रि ने भास (तेज) द्वारा अन्धकार का नाश किया और शेष तीन स्थानों में देवों को अन्धकार का नाशक कहा है पर वहां भी देव शब्द का अर्थ सूर्यरश्मि ज्ञात होता है। गोपथब्राह्मण ८।१६ में यह वर्णन है कि स्वर्भानु ने तम से सूर्य को वेधित किया और अत्रि ने उसका अपनोद किया। शतपथब्राह्मण ५।३।२२ में कहा है कि स्वर्भानु ने तम से सूर्य को वेधित किया और सोम तथा रुद्र ने उस तम का नाश किया।

ऋकसंहिता में ग्रहण के विषय में लिखा है–**यत्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः। अक्षेत्रविद्यथामुग्धो भुवनान्यदीधयुः** ।।५।। ऋ० सं० ५।४०

हे सूर्य, जब आसुर स्वर्भानु ने तम से तुम्हें आच्छादित किया उस समय सब भुवन मे ऐसे दिखलायी पड़े मानो वहां का सम्पूर्ण जनसमूह अपना–अपना स्थान भूलकर मुग्ध हो गया है ।।५।।

अवयव

ऋग्वेद में ६४ अवयव कहे गये हैः–**चतुर्भिः साकं नवति च नामभिश्चक्रं न वृतं व्यतीर्खीविपत। बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्कभियुर्वाकुमारः प्रत्येत्याहवम॥**(ऋ.म.१.सू. १५५.म.६.)उक्त मंत्र में गति विशेष द्वारा विविध स्वभाव शाली काल के ६४ अंशों को चक्र की तरह वृत्ताकार कहा गया है। उक्त कालावयवों में १ सम्वतसर २ अयन ५ ऋतुयें १२ माह २४ पक्ष ३० अहोरात्र ८ पहर और १२ आरा मानी गयी हैं। ऋतुओं में हिमन्त और शिशिर एक ऋतु मानी गयी है। इस प्रकार ६४ कलावयवों की गणना की गयी है।

इस प्रकार वेदों में अनेक ज्योतिष शास्त्र के विषय वर्णित हैं जिनका संक्षिप्त निदर्शन यहां किया गया। अब हम वेदांग ज्योतिष संज्ञक ग्रन्थ का परिचय प्राप्त करेंगे।

5.4 वेदांग ज्योतिष

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने वैदिक साहित्य एवं संस्कृति ग्रन्थ में लिखा है कि – वेद एक स्वयं दुरूह विषय ठहरा, भाषा तथा भाव दोनों की दृष्टि से। अतएव वेद का अर्थ जानने में, उसके कर्मकाण्ड के प्रतिपादन में तथा इस प्रकार की सहायता देने में जो उपयोगी शास्त्र हैं उन्हें वेदांग के नाम से पुकारते हैं।6 वेदांगों में से चार वेदांग भाषा से सम्बन्धित हैं – व्याकरण, निरूक्त, शिक्षा, छन्द। इन चार वेदांगों से वेद का यथार्थ बोध होता है। कल्प के चार विभाग हैं। श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्ब इनमें से केवल शुल्ब ही वैज्ञानिक शाखा का प्रतिनिधत्व करता है। षष्ठ अंग है ज्योतिष। यह वेदांग पूर्णतः वैज्ञानिक, कालविधान कारक तथा वैदिक धारान्तर्गत भारतीय मनीषा की सर्वोच्च उपलब्धि वेद किसी एक विषय पर केन्द्रित रचना नहीं है। विविध विषय और अनेक अर्थ को द्योतित करने वाली मन्त्र राशि वेदों में समाहित है। वेदकेवल ज्योतिष, व्याकरण, छन्द, धर्म, दर्शन या किसी अन्य विषय का ग्रन्थ नहीं है। अतः वेदों में किसी भी विषय का तारतम्य बद्ध अध्ययन नहीं है। इसीलिए वेदों को उत्स, मूल या आदि तो कह सकते हैं, पर विषय नहीं। भारतीय ज्ञान परम्परा की पुष्टि वेद में निहित है। कोई भी विषय मान्य और भारतीय दृष्टि से संवलित तभी माना जायेगा जब उसकी जड़े वेदचतुष्टय में कहीं न कहीं समाहित हों। अतः ज्योतिष भी वेदों में बीजरूप में दिखलाई पड़ता है। इसी बीज विषय को '**वैदिक ज्योतिष**' कहते है।

वेदांग हैं – व्याकरण, ज्योतिष, निरूक्त, कल्प, शिक्षा और छन्द। इन्हें छः वेदागकहा जाता है। अंगी वेद है और अंग वेदांग है। वेदों में बहुत्र ज्योतिष शास्त्र के विषय प्राप्त होते हैं, जिनका आपने संक्षेप में अभी अध्ययन किया। परन्तु वेदांग ज्योतिष उससे थोडा भिन्न है। प्रत्येक वेद की अपनी शाखायें है, प्रत्येक वेद की मन्त्र संहितायें हैं, उनसे संबंधित आरण्यक हैं, ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, सूत्र ग्रन्थ हैं और उपनिषद भी हैं, उसी प्रकार प्रत्येक वेद से संबंधित ज्योतिष भी है। जिस प्रकार से वेद की विभिन्न मन्त्र संहिताओं में एक समान मन्त्र समाहित हैं, उसी प्रकार वेदों से संबंधित ज्योतिष ग्रन्थों में भी एक समान विषय व मन्त्र विद्यमान है। इन ग्रन्थों को ही वेदांग ज्योतिष कहा गया है।

जिसे ऋग्वेदी पढ़ते हैं उसे यहां ऋग्वेदज्योतिष कहेंगे और जिस पर सोमाकर की टीका है उसे यजुर्वेदज्योतिष कहेंगे। अथर्ववेद ज्योतिष तो बिलकुल भिन्न ही है ।

पहिले दोनों में बड़ा साम्य है। ऋग्ज्योतिष के ३६ श्लोकों में मे ३० श्लोक यजुर्वेदज्योतिष में आये है और इसके अतिरिक्त १३ श्लोक और भी हैं। इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में कुल ४६ श्लोक है। समान बतलाये हुए श्लोकों में से एक श्लोक अर्थ की दृष्टि से उभयत्र समान होते हुए भी शब्द रचना और छन्द में बिलकुल भिन्न है।

वेदांग ज्योतिष की रचना महात्मा लगध ने की थी। उन्होंने ही इसकी रचना करके सर्वप्रथम ज्योतिषशास्त्र को स्वतन्त्र रूप से स्थापित किया था। भारतवर्ष के गौरवास्पद विषयों में वेद–वेदांग वांगमय का प्रमुख स्थान है। वेदांग ज्योतिषविद्या में और कलगणनापद्धति में अतीव महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले आचार्य लगध को और उन के पंचसंवत्सरमयम् इत्यादि वेदांगज्योतिषग्रन्थ को बहुत कम लोग जानते हैं। किन्तु वैदिकधर्मकृत्यों के कालों के निरूपण में यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिक और अनुल्लंघनीय माना गया है। अयनचलन के विचार के लिए अत्यन्त उपयोगी करीब ३४०० वर्ष प्राचीन आलेख, जो भूमण्डल के अन्य देशों के ज्योतिषवांग्मय में सर्वथा अनुपलब्ध है, इस ग्रन्थ में उपलब्ध होने से कालगणनापद्धति के विषय में इस ग्रन्थ का लौकिक महत्व भी विलक्षण और अद्वितीय है।

5.4.1 लगध प्रोक्त वेदांगज्योतिष में प्रतिपाद्य मुख्य विषय

लगधप्रोक्त वेदांगज्योतिष ग्रन्थ में पाँच वर्षों का युग, माघशुक्लादि वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, पर्व, विषुवत्तिथि, नक्षत्र, अधिमास ये विषय प्रतिपादित हैं। श्रौतस्मार्तधर्मकृत्यों में इन की ही अपेक्षा होने से इस वेदांग ज्योतिष ग्रन्थ में इन विषयों का मुख्यतया प्रतिपादन किया गया हैं।

वैदिक ज्योतिष का जो स्वरूप हमें संहिता ग्रन्थों में उपलब्ध है, उसमें नक्षत्रों, तिथियों, चान्द्रमासों, दोनों विषुवत् और दोनों अयनों का का वर्णन उपलब्ध है और नक्षत्र गणना कृत्तिका नक्षत्र से की गई है जो उस समय वसन्त सम्पात का नक्षत्र था। उपरोक्त विषयों का गणितीय स्वरूप हमें वेदांग ज्योतिष में उपलब्ध होता है जो गणना के द्वारा तिथियों, नक्षत्रों के मान को प्रस्तुत करता है। वेदांग ज्योतिष की गणना के अनुसार ५ वर्षों का एक युग माना गया है जो चान्द्रयुगचक्र कहा जा सकता है। ग्रन्थारम्भ में ही उन्होने इस विषय का प्रतिपादन किया तथा अपना परिचय भी प्रदान किया –

पञ्चसंवत्मरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिम्।
दिनर्त्वयनमासांग प्रणम्य शिरसा शुचिः ॥१॥
प्रणम्य शिरमा कालमभिवाद्य सरस्वतीम्।
कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः।।२।।

अर्थ––दिवस, ऋतु, अयन, और मास जिसके अंग है ऐसे पञ्चसंवत्सरमय युगाध्यक्ष प्रजापति को शिरसा नमस्कार कर शुद्ध होता हुआ मैं काल को नमस्कार कर और सरस्वती का अभिवादन कर महात्मा लगध के बतलाये हुए कालज्ञान का वर्णन करता हूं।

इसमें एक सौर वर्ष ३६६ दिनों का माना गया है, इसलिए ५ सौर वर्षों में ३६६ x ५ = १८३० सावन दिन होते हैं। एक युग में ६२ चान्द्रमास और ६० सौर मास होते हैं इस प्रकार ५ वर्ष में २ अधिमास होते हैं। इन २ अधिमासों में ३० तिथियाँ होती है। युग में ६७ नाक्षत्रमास होते हैं। इसमें चन्द्रमा ६७ x २७ = १८०६ नक्षत्रों को पार करता है। युग का आरम्भ उत्तरायण अथवा दक्षिणायनान्त से होता है, जब चन्द्रमा और सूर्य दोनों धनिष्ठा नक्षत्र पर होते है और माघमास का आरम्भ होता है। जैसे –

स्वराक्रमेते सोमार्कौ यदा साकं सवासवौ।
स्यात् तदादियुगं माघस्तपः शुक्लोऽयनं ह्युदक् ।।

जब चन्द्रमा और सूर्य एक साथ धनिष्ठा नक्षत्र पर आकाश में होते हैं तभी युग का आदि माघ और उत्तरायण का आरम्भ होता हैं, जो शुक्लपक्ष का आदि और तपमास होता है।

प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचान्द्रमसावुदक् ।
सार्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोः सदा।।

श्रविष्ठा के आरम्भ में सूर्य और चन्द्रमा उत्तर की ओर मुड़ते हैं और आश्लेषा के आधे पर दक्षिण की ओर। सूर्य सर्वदा माघ और श्रावण मासों में क्रमशः उत्तर और दक्षिण की ओर मुड़ता है।

वेदांग ज्योतिष में स्पष्ट है कि तिथि नक्षत्रों के मान केवल चन्द्रमा, सूर्य के मध्यम गतियों की गणना के आधार पर बनाये गये गणितीय नियमों के अनुसार हैं। इससे स्पष्ट है कि नक्षत्रों और तिथियों के अंशात्मक विभाग उस समय तक नहीं किए गये थे। क्योंकि ५ वर्ष के सावन दिनों की संख्या और तिथियों की संख्या का अन्तर करके उसमें पक्ष संख्या से भाग देकर पाक्षिक तिथियाँ प्राप्त की गई हैं, और इसी प्रकार चन्द्रमा के नक्षत्र भोग दिनों में नक्षत्र संख्या से भाग देकर नक्षत्रों का मान उपलब्ध किया हुआ प्रतीत होता है। इससे सिद्ध है कि नक्षत्रों के कोणीय मान का कोई निर्देश नहीं है। इस ग्रन्थ में बारह राशियों, सप्ताहों के दिन और ग्रहों के गतियों का कोई उल्लेख नहीं है।

आज भी नक्षत्रों के वही नाम प्रचलित है जो वेदाङ्ग ज्योतिष के काल में थे। अन्तर इतना ही है कि वैदिक काल में नक्षत्रों की गणना कृत्तिका से, वेदांगज्योतिष काल में धनिष्ठा से तथा आज अश्विनी से गणना प्रारम्भ होती है। दूसरा अन्तर यह है कि वेदों में क्रम से नक्षत्रों के नाम नहीं दिए गए हैं। संकेताक्षर द्वारा सभी नक्षत्रों का उल्लेख है। यथा –

जौद्रागः खेश्वहीरोषाचिन्मूषण्यः मूमाधानः ।।
रेमृधास्वापोजः कृष्योह ज्येष्ठा इत्यृक्षा लिंग।

यजुः पाठ इसी प्रकार है, ऐसा कह सकते हैं। यहां २७ नक्षत्रों के नाम संकेत द्वारा बतलाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं–

1. जौ = अश्वयुजी अश्विनी। 2. द्रा = आर्द्रा। 3. गः = भगः पूर्वाफल्गुनी। 4. खे = विशाखे। 5. श्वे = विश्वे (देव) उत्तराषाढ़ा। 6. हिः = अहिर्बुध्नयः उत्तराभाद्रपदा। 7. रो = रोहिणी। 8. षा = आश्लेषा। 9. चित् = चित्रा। 10. मू = मूल। 11. षक् = शतभिषक्। 12. ण्यः = भरण्यः। 13. सू = पुनर्वसू। 14. मा = अर्यमा = उत्तराफाल्गुनी। 15. धाः = अनुराधा। 16. नः = श्रवणः। 17. रे = रेवती। 18. मु = मृगशीर्ष । 19. घा =मघा। 20. स्वा = स्वाती। 21. प = आपः = पूर्वाषाढ़ा। 22. अजः = अजएकपाद = पूर्वाभाद्रपदा। 23. कृ= कृत्तिका 24. ष्य = पुष्यः । 25. ह = हस्तः । 26. ज्ये = ज्येष्ठा। 27. ष्ठा = श्रविष्ठा ।

यहां संकेत के लिए कुछ नक्षत्रों के आद्य और कुछ के अन्त्य अक्षर और किसीकिसी के देवताओं के अन्त्य अक्षर लिये हैं। अश्विनी से आरम्भ कर पांच–पांच नक्षत्रों के अन्तर से आगे के नक्षत्र लिये हैं। अश्विनी के बाद उससे छठा नक्षत्र आर्द्रा और तत्पश्चात् आर्द्रा से छठा नक्षत्र पूर्वाफाल्गुनी लिया है ।

नक्षत्र के देवताओं के नाम भी निर्दिष्ट हैं

अग्निः प्रजापतिः सोमो रुद्रोदितिबृहस्पतिः।
सर्पाश्च पितरश्चौव भगश्चौवार्यमापि च ।।
सविता त्वष्टाथ वायश्चेन्द्राग्नी मित्र एव च।
इन्द्रो निर्ऋतिरापो वै विश्वेदेवास्तथैव च ॥
विष्णुर्वरुणो वसवोऽजएकपात्तथैव च।
अहिर्बुध्न्यस्तथा पूषाश्विनौ यम एव च ।।२७।।

इसमें २७ नक्षत्र के देवताओं के नाम बतलाये हैं। नक्षत्रों के नाम यद्यपि नहीं हैं तथापि यह निर्विवाद सिद्ध है कि देवताओं का आरम्भ कृत्तिका से है ।

नक्षत्रदेवता एता एताभिर्यज्ञकर्मणि ।
यजमानस्य शास्त्रजर्नाम नक्षत्रजं स्मृतम् ।।

ये नक्षत्रों के देवता है। शास्त्रज्ञों ने कहा है कि यज्ञ–कर्म में इनके द्वारा यजमान का नक्षत्र–नाम रखना चाहिए । जिस नक्षत्र में मनुष्य का जन्म होता है उसके चरण के अनुसार नाम रखने की रीति इधर ज्योतिष–ग्रन्थों में है और सम्प्रति उसका प्रचार भी है।

वेदांग ज्योतिष में न केवल क्रान्तिवृत्त का सम्यग् ज्ञान उपलब्ध होता है अपितु नाड़ीवृत्तीय कालज्ञान भी पूर्णरूपेण व्यवहार में था। यद्यपि काल का विवेचन सभी वेदों में है।

5.4.2 वेदांग ज्योतिष में दिनमान

वेदांग ज्योतिष में उत्तरायणारम्भ के दिनमान से दक्षिणायनारम्भ के दिन तक की गणना करके सबसे बड़े दिन (दक्षिणायनारम्भ के दिन) में सबसे छोटे दिन (उत्तरायणारम्भ के दिन) को घटाकर उसमें वर्ष के आधे दिन की संख्या में १८३ से भाग देकर लब्धितुल्य दैनिक वृद्धि से मध्यवर्ती दिनों का कालमान लाया गया है। किन्तु दिनमानों का अनुपात २।३ का है, अर्थात् सबसे छोटे दिन का डेढ़ा सबसे बड़ा दिन है, उससे जो चर घटी आती है वह ३५ अंश अक्षांश की होती है। खाल्दिया का अक्षांश भी यही है। इसलिए कुछ यूरोपियन यह मानते हैं कि वेदांग ज्योतिष के समय आर्यों का निवास उत्तर–पंजाब सीमा प्रान्त और कश्मीर तथा अफगानिस्तान में था। यहाँ का अक्षांश ३२ अंश है और किरणवक्री भवनसंस्कार से भी ६ मिनट दिनमान बढ़ सकता है, तथा जल घड़ी के द्वारा कालमापन विधि के व्यवहार से भी कुछ अन्तर सम्भव है। इस प्रकार वेदांग ज्योतिष का विषय शुद्ध भारतीय है उसके लिए दूसरा प्रमाण नक्षत्रों में लग्न की गणना है वेदांग ज्योतिष में कहा गया है कि

श्रविष्ठाभ्यो गणाभ्यस्तान् प्राग्विलग्नान् विनिर्दिर्शेत् (आर्च ज्योतिष १६) अर्थात् धनिष्ठा से गणना कर पूर्व क्षितिज में लगे हुए नक्षत्रों के लग्नों का फल उसमें नहीं दिया गया है, किन्तु आगे चलकर अथर्व ज्योतिष में हम नक्षत्रों का फल देखते हैं और जन्म, सम्पत्ति, विपत्ति, क्षेम, प्रत्यरि, साधक,वध, मैत्र और अतिमैत्र ये नौ संज्ञायें जन्म नक्षत्र से आरम्भ कर बतलाई गयी हैं तथा उनके फल भी नाम के तुल्य ही कहे गए हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदांग ज्योतिष काल में गणित एवं फलित ज्योतिष की सच्ची नींव पड़ चुकी थी। बार्हस्पत्य संवत्सर का, क्षयमास का, मेष वृष इत्यादि राशियों का, सौर संक्रान्तियों का, आदित्यवार सोमवार इत्यादि वारों का, सूर्य–चन्द्र ग्रहणों का, मंगल–बुधादि ग्रहों का, वृहस्पति के और शुक्र के उदय और अस्त का भी

वेद मन्त्रों में ब्राह्मणग्रन्थों में श्रौतसूत्रों में गृह्यसूत्रों में और धर्मसूत्रों में भी अपेक्षा न होने से लगधप्रोक्त वेदांगज्योतिषग्रन्थ में भी इन विषयों का प्रतिपादन नहीं किया गया है।

वैदिक परम्परा में संवत्सर का अत्यधिक महत्व है। शतपथब्राह्मण में अनेक स्थलों में संवत्सर को प्रजापति बताया गया है। शतपथब्राह्मण में संवत्सर को प्रजापति की प्रतिमा भी कहा गया है। वैदिक, चयनयाग संवत्सर के ही अनुकरण में आधृत दिखाई देता है। अहोरात्र,पक्ष, मास,ऋतु सभी संवत्सर में ही आधृत माने गये हैं। वेद की इसी मान्यता को ध्यान में रखकर ही ज्योतिषी गर्गाचार्य ने भी संवत्सर का स्वरूप निश्चित होने पर ही अयन, ऋतु, मास, पक्ष, नक्षत्र, तिथि और दिन निश्चित हो सकने की और अयनादि कालों में विहित धर्मकृत्य भी ठीक–ठीक समय में हो सकने की की बात बताई है। उन का वचन है –

अयनान्यतवो मासाः पक्षासत्वृक्षं तिथिर दिनम्।
तत्वतो नाऽधिगम्यन्ते यदाऽब्दो नाऽधिगम्यते।।
यदा तु तत्वतोऽब्दस्य क्रियतेऽधिगमो बुधैः।
तदैवैषाममोहः स्यात् क्रियाणां चाऽपि सर्वशः।।

इस स्थिति में वैदिक मूल परम्परा के संवत्सर के वास्तविक स्वरूप का विवेचनात्मक ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। महात्मा लगध द्वारा रचित वेदांग ज्योतिष की चर्चा अर्वाचीन काल में पाश्चात्य संस्कृतविद् कोलब्रूक, मैक्समूलर,याकोबी, वेबर, थिबो इत्यादि लोगों ने भी की है। भारतीय लोगों में शंकर बालकृष्णदीक्षित, लाला छोटेलाल (बार्हस्पत्य), सुधाकर द्विवेदी, बालगंगाधर तिलक, योगेश चन्द्र राय, शामशास्त्री, गोरखप्रसाद, सत्यप्रकाश इत्यादि लोगों ने भी इस ग्रन्थ की चर्चा की है। इस ग्रन्थ का वर्तमान काल में भी वैदिक धर्म के अग्न्याधान– दर्शपूर्णमासादि यज्ञों में और नामकरण – उपनयन विवाहादि संस्कारों में अपेक्षित कालज्ञान के उपयोगी साधन के रूप में प्रयोग हो सकने के विषय में उन लोगों ने सम्यक् विचार नहीं किया है।

5.5 वैदिक ज्योतिष और वेदांग ज्योतिष का काल

ज्योतिषशास्त्र का उद्भव तो सृष्टि के आरम्भ से ही है, और जब से मनुष्य की बुद्धि विकसित हुई उसने ब्रह्माण्ड को देखना प्रारम्भ किया, दिन रात के क्रम को गिनना प्रारम्भ किया तभी से लौकिक ज्योतिष तो आरम्भ हो ही चुका था। और जब् वैदिक ऋचाओं की रचना हुई तो वहीं ब्रह्माण्ड और काल गणना का ज्ञान मन्त्रबद्ध हो गया, तो वैदिक ज्योतिष का आरम्भ हो गया। अत्यधिक तर्क वितर्क, विभिन्न प्रमाणों के आधार पर वेदों की रचना का काल सभी विद्वानों ने ६००० वर्ष ईसा पूर्व से २००० वर्ष ईसा पूर्व के मध्य माना है, तो वैदिक ज्योतिष को भी इतना ही प्राचीन माना जायेगा। वेदों की श्रुति परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। उस ऋषियों के जन्म का अनुमान लिपि परम्परा के माध्यम से नहीं किया जा सकता। कुछ ऐसे भी ऋषि हैं, जिन्होंने मन्त्रों के दर्शन किये हैं और अलग से अपनी ज्योतिष संहितायें भी लिखी हैं। ऐसे ऋषियों में भारद्वाज, अगस्त्य, वसिष्ठ आदि प्रमुख हैं। इन ऋषियों ने वेद की ऋचाओं या मंत्रों को पृथक् रखा और स्वकृत रचना को संहिता (ज्योतिष) कहा। एक ही ऋषि का विषयगत यह पार्थक्य अपूर्व है। ज्योतिष संहिताओं की भाषा शैली वेद मंत्रों से सर्वथा पृथक् है। ऋचाओं में दृष्ट तत्व क्यों और कैसे की व्याख्या नहीं करता, जबकि संहिता ग्रन्थों में वर्णित विषय गणित और सूत्रात्मक प्रक्रिया से आबद्ध हैं।

वेदांग ज्योतिष की रचना काल के निर्धारण में अनेक विद्वानों ने परिश्रम किया है। कोलब्रूक इत्यादि यूरोपियन विद्वानों ने वेदांगज्योतिष का समय इस आधार पर निश्चित किया है कि श्रेवती तारा से नक्षत्रचक्र का आरम्भ मानने से धनिष्ठा का जो विभागात्मक स्थान होता है उसके आरम्भ में सूर्य और चन्द्रमा के आने पर वेदांगज्योतिषकाल में उत्तरायण मानते थे।' उनके अनुसार ई.पू. ११०८ के लगभग धनिष्ठारम्भ में उत्तरायण होता था। प्रो० ह्विटनी के मतानुसार योगतारा बीटाडेल्फिनी मान लेने से ७२ वर्ष आगे आना पड़ेगा, अर्थात् वेदांगज्योतिष का रचनाकाल ई० स० पूर्व १३३८ मानना होगा। धनिष्ठा नक्षत्र के सब तारे एक अंश के भीतर हैं अतः यह समय न्यून या अधिक नहीं किया जा सकता। सामान्यतः ई० स० पूर्व १४०० मानना ठीक होगा। वेदांगज्योतिषोक्त अयनप्रवृत्ति का वर्णन करते हुए वराहमिहिर लिखते है कि प्राचीन शास्त्रों में ऐसा कहा है। इससे मालूम होता है कि उनके समय (शके ४२७) वेदांगज्योतिष बहुत प्राचीन समझा जाता था।

पराशर का वचन है–

श्रविष्ठाद्यात् पौष्णार्ध चरतः शिशिरो वसन्तः । बृहत्संहिता ३.१ भटोत्पलटीका । इसमें भी वेदांगज्योतिषोक्त अयनप्रवृत्ति का वर्णन है । इससे सिद्ध होता है कि वेदांगज्योतिष गर्ग और पराशर से प्राचीन है। उनकी संहिताओं में वेदांगज्योतिषपद्धति मिलती अवश्य है, परन्तु मालूम होता है उस समय उत्तरायण ठीक धनिष्ठारम्भ में नहीं होता था। उसमें कुछ अन्तर पड़ गया था। भटोत्पल ने बहत्संहिता के तृतीयाध्याय में **'अप्राप्तमकरमर्क'** श्लोक की टीका में गर्ग का निम्नलिखित वचन उद्धृत किया है–**यदा निवर्ततेप्राप्तः श्रविष्टामुत्तरायणे।आश्लेषां दक्षिणेऽप्राप्तस्तदा विन्द्यान्महद्भयम् ।।**

इसी प्रकार पराशर का भी वचन लिखा है। इससे विदित होता है कि वेदांगज्योतिष गर्ग और पराशर से बहुत पहिले बन चुका था। इन गर्ग और पराशर का समय निश्चित करना बड़ा कठिन है, परन्तु महाभारत में गर्ग नाम के ज्योतिषी बड़े प्रसिद्ध है (गदापर्व, अध्याय =. श्लोक १४) । पातञ्जलिमहाभाष्य में भी गर्ग का नाम अनेकों बार आया है। पाणिनीय में भी गर्ग और पराशर के नाम आये है (४।३।११०, ४।१०।१०५)। इसमे सिद्ध हुआ कि गर्ग और पराशर पाणिनि से प्राचीन हैं और वेदांगज्योतिष उनसे भी प्राचीन है। डा० भाण्डारकर के मतानुसार पाणिनि का समय ई० स० पूर्व सातवीं शताब्दी का आरम्भ काल है। कैलासवासी कुंटे ने ई० पूर्व नवीं शताब्दी का आरम्भ बताया है । पाणिनीय में संवत्सर और परिवत्सर शब्द आये हैं (५॥६२)। वेदांगज्योतिषोक्त आढ़क और तत्कालीन खारी इत्यादि मान भी पाणिनि के समय प्रचलित थे (५।१।५३ इत्यादि)। इन सब हेतुओं से भी यही अनुमान होता है कि वेदांगज्योतिष पाणिनि से प्राचीन है।विभिन्न प्रमाणों से सभी ने एकमत से ई.पूर्व १४०० के लगभग वेदांग ज्योतिष का काल निर्धारण किया है।

5.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने वैदिक काल में ज्योतिष शास्त्र के स्वरूप को जाना और उसके उपरान्त वेदांग के रूप में रचित वेदांग ज्योतिष के सन्दर्भ में भी अध्ययन किया। किसी भी वस्तु के स्वरूप को जिन तत्त्वों, अवयवों या उपकरणों के माध्यम से जाना जाता है। उसे अंग कहते हैं। अंग शब्द की व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी यही है –**अंग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अ्ंगानि।** यज्ञ, तप, दान आदि के द्वारा ईश्वर की उपासना वेद का परम लक्ष्य है। उपर्युक्त सभी की प्राप्ति याग प्रक्रिया के माध्यम से जाती थीं। यज्ञादि कर्म काल पर आश्रित हैं और इस कार्य के लिए समुचित काल

का विधायक शास्त्र ज्योतिष शास्त्र है। अतः इसे वेदांग की संज्ञा दी गई है। शब्दशास्त्र, ज्योतिष, निरूक्त, कल्प, शिक्षा तथा छन्द इन छः शास्त्रों द्वारा वेद का सम्यग् ज्ञान सम्भव होता है। अतः छः शास्त्रों को वेदांग कहा गया है। यद्यपि इन शास्त्रों को वेदांग सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, ये स्वतः सिद्ध वेद के अंग हैं। तथापि ज्योतिष शास्त्र की वेदांगता के प्रमाणों के उद्धरण इस इकाई में प्रदान किये गये हैं। इसके उपरान्त वेदों में जितने भी ज्योतिष शास्त्र से संबद्ध विषय विद्यमान है उनका संक्षेप में निदर्शन इस इकाई में किया गया। और निश्चित रूप से आपने जाना कि जब विश्व में अन्य सभ्यताएँ विकसित भी नहीं हुई थीं उस समय भारतवर्ष के विलक्षण आचार्यों ने प्रकृति, ब्रह्माण्ड व काल के गूढतम रहस्यों को खोज निकाला था। उसी परम्परा में आचार्य लगध प्रसिद्ध हुए जिन्होने वेदों के अंग के रूप में वेदांग ज्योतिष की रचना की। जिसमें उन्होने वेदों में ही वर्णित ज्योतिष शास्त्र के विषयों को और अधिक परिष्कृत किया।

5.7 पारिभाषिक शब्दावली

वैदिक ज्योतिष – ऋक, साम, यजु एवं अथर्व संहिताओं में वर्णित ज्योतिष को वैदिक ज्योतिष कहा जाता है।

वेदांग ज्योतिष – वेदांग ज्योतिष महात्मा लगध की कृति है।

अंग – किसी भी वस्तु के स्वरूप को जिन तत्त्वों, विषयों, अवयवों या उपकरणों के माध्यम से जाना जाता है। उसे अंग कहते हैं। अंग शब्द की व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी यही है – अंग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अंगानि।

पंचांग– तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण। इन पाँच अंगों से जो मिलकर बनता है, उसे पंचांग कहते है।

दिनमान– दिन सम्बन्धि मान को दिनमान कहते है। सम्पूर्ण दिनमान (दिन और रात्रि मिलाकर) ६० घटी का होता है।

नक्षत्र – न क्षरतीति नक्षत्रम्। जिसका की क्षरण नहीं होता वह नक्षत्र है। वे तारे जो अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं।

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क) सिद्धान्तशिरोमणि' मूल लेखक– भास्कराचार्य, टिकाकार– आचार्य सत्यदेव शर्मा, प्रकाशक – चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी।

ख) वेदांग ज्योतिष' मूल लेखक – महात्मा लगध, टिकाकार– आचार्य कौण्डिण्यायन, प्रकाशक स्थान – चौखम्भा वाराणसी।

ग) सूर्यसिद्धान्त टिका – प्रोफेसर रामचन्द्र पाण्डेय, आचार्य कपीलेश्वर शास्त्री, प्रकाशक – चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी।

घ) भारतीय ज्योतिष – आचार्य शंकरबालकृष्ण दीक्षित।

5.9 सहायक पाठ्यसामग्री

- प्राच्यविद्यानुशीलनम् लेखक – प्रोफेसर रामचन्द्र पाण्डेय, प्रकाशक – नैसर्गिकी शोध संस्थान वाराणसी।
- भारतीय ज्योतिष – शंकरबालकृष्णदीक्षित । नेमिचन्द शास्त्री

- वेदांग ज्योतिष – आचार्य कौण्डिन्यायन
- ज्योतिष शास्त्र – लेखक – डॉ. कामेश्वर उपाध्याय।
- सुलभ ज्योतिष ज्ञान – पं. वासुदेव सदाशिव खानखोजे।

5.10 बोध प्रश्न

1) ज्योतिष की वेदांगता का प्रतिपादन कीजिये।
2) वेदांग ज्योतिष का तात्पर्य स्पष्ट कीजिये।
3) वैदिक ज्योतिष में वर्णित नक्षत्र स्वरूप का प्रतिपादन कीजिये।
4) वेदांग ज्योतिष पर निबन्ध लिखिये।
5) लगधप्रोक्त वेदांग ज्योतिष के काल निर्धारण का वर्णन करें।
6) वैदिक ज्योतिष में वर्णित मास व ऋतुओं की परिकल्पना का प्रतिपादन कीजिये।




ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY